

दीक्षाचतुष्टयी



दीक्षाचतुष्टयी

अष्टाक्षर-सगद्यपञ्चाक्षर-गायत्री-गोपालमन्त्राणां

व्याख्याभिरुपेता



प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र - ४१६००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथम संस्करण : प्रभुचरणप्राकट्योत्सव
वि.सं. २०७९, श्रीवल्लभाब्द ५४५ ई.व.२०२२

३०० प्रति.

निशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
पूर्वी प्रेस, राजकोट.

E-book available on : www.Pushtimarg.net
Also on App Pushtividya

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज)	२०
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०	प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	५०

Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	अप्राप्य	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा	दुर्लभ	पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार विचारगोष्ठी	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००		

पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		

वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठः

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	२०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	२०

पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०

पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थः

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०

Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखकः गो.शरद १५

अमृत वचनावली (गुजराती) निःशुल्क अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थः

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय १००

पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका १५०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०

विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०

गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य

श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य

रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य

भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य

षोडशग्रन्थगतउपदेशोअनेतेमनी६४वार्ताओ,लेखक:श्रीभूपेन्द्रभाटीया अप्राप्य

कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य

जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०

पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००

पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००

श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी द्वितीय खंड (अध्याय २०-३३) संस्कृत

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५

आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथप्रभुचरण–श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी–कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण–कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज. पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात–३८९३५०. फोन : 02676-225171



व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

http://www.pushtimarg.net/



टेलि कोन्फरन्स्–पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल–वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com



Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**



Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth





Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।



गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
    खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
    खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
    खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्
२. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
    खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
    खंड ३. द्वितीयाध्याय
    खंड ४. तृतीयाध्याय
    खंड ५. चतुर्थाध्याय
३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
    खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
    खंड २. प्रथम (द्वितीय खंड. अध्याय ९-१९)
        तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
    खंड ४. जन्मप्रकरण
    खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
    खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
    खंड ७. तामसफलप्रकरण
    खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
    खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण
    खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
    खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध
४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
    खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
    खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
    खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१४
५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ
६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
८. प्रस्थानरत्नाकर
९. विद्वन्मण्डनम्
१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि
१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम् गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड १. आद्यवादत्रयात्मिका

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृ-ति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवाद :, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. भक्तिहेतुनिर्णयः भक्तिहंसः

२२. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रविज्ञप्तयः.

२३. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२४. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२५. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)

२६. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)

२७. विवेक (हिन्दी-गुजराती)

२८. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)

२९. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)

३०. नवरत्नम् (गुजराती)

३१. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)

३२. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती)

३३. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)

३४. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)

३५. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३६. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी)
३७. चतुःश्लोकी(हिन्दी)
३८. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)
३९. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)
४०. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)
४१. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
४२. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
४३. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज)
४४. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
४५. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)
४६. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
४७. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४८. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४९. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
५०. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५२. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५३. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५४. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५५. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्‌भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५६. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५७. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्‌प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्‌ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५८. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५९. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
६०. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६१. अमृतका आचमन
६२. कृष्णएव तात्पर्यम्
६३. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६४. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६५. षोडशग्रन्थ परिचय
६६. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)

६७. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)

६८. सिद्धान्तवचनावली

६९. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)

७०. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक

७१. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो

७२. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.

७३. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)

७४. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)

७५. शिक्षाश्लोका (गुजराती)

७६. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)

७७. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)

७८. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)

७९. भक्तिरस

८०. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास

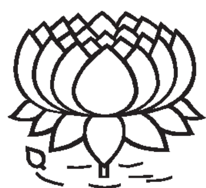
८१. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)

८२. कपिलगीता (सविवरण) (भाग १,२) (हिन्दी)

८३. दीक्षाचतुष्टयी

सम्पर्क: गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६
विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे :
पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

***



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

आमुख

कृष्ण श्रीकृष्ण मन माँहि गति जानिये॥
देह इन्द्रिय प्राण दारागारादि वित्त आत्मा सकल श्रीकृष्णकी मानिये॥१॥
कृष्ण मम स्वामी हों दास मनवचनकर्म कृष्ण कर्ता येहि सदा जिय आनिये॥
कृष्णदास निनाथ हरिदासवर्यधरचरणरज वल्लभाधीश मन सानिये॥२॥

सेवा करन प्रकट व्रज आये॥
श्रीलक्ष्मनगृह वल्लभ प्रगटे तिनके श्रीविट्ठलनाथ कहाये॥१॥
.................................॥२॥
श्रीगोपालमंत्र अष्टाक्षर पंचाक्षर को स्रवन कराये॥
गद्यमन्त्र सब जीवनिको दे कृष्णचरण सबके चित लाये॥३॥
....
दासभावसों आपु बिराजत सुनि वचनामृत कोउ न अघाये॥
श्यामसुन्दरपदरजप्रतापतें 'कृष्णदास' यह दरसन पाये॥४॥

यद्यपि इन दो पदोंमें से प्रथम पद अष्टाक्षर और सगद्य पञ्चाक्षर के भावानुवादतया विरचित है; तथा, दूसरा पद श्रीकृष्णदासजीने श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणकी ही स्तुतिमें रचा है. फिरभी कोई कारण नहीं कि इसे महाप्रभुपरक भी लिया न जाये. क्योंकि

श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके प्रथम स्कन्धके मंगलाचरणके "**श्रीमद्वल्लभविद्वदीशविलसद्वंशाब्धिपूर्णेन्दवे श्रीगोपीपतिवन्दिने... श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति... तस्मै तातमहाशयाय हरये कुर्मो नमः सिद्धये**" (सुबो.१।१।१/३) इस कारिकाकी प्रकाशव्याख्यामें श्रीपुरुषोत्तमजीने "**अत्र 'श्रीगोपीपतिवन्दिने' इत्यनेन विष्णुस्वामि-मतानुवर्ति-गोपालमन्त्रोपासकत्वं सूचितम्**" (सुबो.प्रका.१।१।१/३) ऐसा विधान किया है. तदनुसार पूर्वजोंसे चली आती परम्पराके अनुसार गोपालमन्त्र भी, अष्टाक्षर और सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रोंकी तरह ही, वल्लभवंशमें अनुवृत्त रहा है. अतएव प्रभुचरणने भी यह दीक्षा अपने जनक महाप्रभुसे ली होगी ही. अतएव अधिकारी शिष्योंको प्रदान भी करते ही होंगे.

यों कुल मिला कर वल्लभवंशमें [१]ब्राह्मण्याधायक गायत्री मन्त्रकी दीक्षा, [२]श्रीविष्णुस्वामी वैष्णव सम्प्रदायानुसारी गोपालमन्त्रकी परम्परागत दीक्षा, [३]भगवद्गीतोपदिष्ट प्रपत्तिमार्गीय अष्टाक्षरमन्त्रकी दीक्षा तथा [४]महाप्रभुको साक्षाद् भगवदाज्ञावश प्राप्त पुष्टिभक्तिमार्गीयत्वाधायक सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रकी दीक्षा यों चार मन्त्रोंकी दीक्षाओंका प्रमुखतया प्रचलन रहा है.

यहां, कृष्णदासजीद्वारा सगद्य पञ्चाक्षरके भावप्रकाशक पदके प्रकट करनेमें, एक विचारणीय मुद्दा यह भी है कि प्राचीन कालमें अनधिकारीके वास्ते न केवल दीक्षामन्त्र अपितु किसी भी प्रकारके विद्याप्रदानमें सावधानी बरतनेकी प्रणाली थी :

> [१]"**विद्या ह वै ब्राह्मणम् आजगाम गोपाय मां शेवधिः ते अहमस्मि. असूयकाय अनृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्**".

[2]"इदं वा तद् ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वा अन्तेवासिने. नान्यस्मै कस्मैचन यद्यपि अस्मा इमाम् अद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्याद्. एतदेव ततो भूयः इत्येतदेव ततो भूयः".

[3]"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन नचाशुश्रूवे वाच्यं नच मां यो अभ्यसूयति".

[4]"मन्त्रगुप्तिस्तु कर्तव्या सततं मन्त्रसिद्धये".

([1]शाट्या.उप.३३, [2]छान्दो.उप.३।११।५-६, [3]भग.गीता १८।६७, [4]जयसंहि. १७।४४).

तो क्या कृष्णदासजीने मन्त्रार्थप्रकाशन कर यह प्रणाली तोड़ दी या नहीं? क्योंकि परवर्ती कालमें कदाचित् पाषण्डकी प्रचुरताके वश अनसूयक ऋजु शुश्रूषु योग्य अधिकारीका निर्धारण दुष्कर बन जानेके कारण सामान्य अन्यान्य विद्या और मन्त्रों की अपेक्षा कमसे कम दीक्षामन्त्रोंको गुप्त रखनेपर तो समधिक भार दिया जाने लगा था. यह देखा जा सकता है कि गोपालपूर्वतापिनी उपनिषद्में पदोल्लेखद्वारा नहीं प्रत्युत प्रतीकोल्लेखद्वारा गोपालमन्त्र द्योतित किया गया है. महाप्रभुने भी भगवदाज्ञाके अक्षरशः उल्लेखकी प्रतिज्ञा करनेके बावजूद सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रका उल्लेख नहीं किया. अतएव सिद्धान्तरहस्यके विवरणमें श्रीपुरुषोत्तमजी भी कहते हैं :

"ननु तदानीन्तनवाक्यकथनस्यैव इयं प्रतिज्ञा तदा समर्पणगद्यमपि कुतो न उक्तम्? इति चेद्; उच्यते तद्धि पञ्चाक्षरमन्त्रविवरकत्वाद् अतिगोप्यम् अतो न उक्तम्. शास्त्रेहि अतिगोप्याः मन्त्रादयः उद्धीयन्तएव नतु प्रकाशतया कथ्यन्ते... यत् पुनः प्राचीनैः अत्र किमपि न उक्तं तत्र एतद्गोप्यत्वमेव

बीजम्. मयातु यद् इदम् उक्तं तद् बहिर्मुख-मुखध्वंसार्थमेवेति न तद्विरोधो दोषाय. यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराधः आयाति तथापि प्रकाशनस्य अन्यैरेव कृतत्वेन तदर्थसन्देहवारण-स्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाः मदपराधं क्षमन्तु".

(सिद्धा.रह.वि.१).

प्रस्तुत सम्पादक भी, अतएव, ऐसी इस क्षमाप्रार्थनाद्वारा ही इस तथ्यको प्रकट करना चाहता है. अर्थात् यही भाव प्रस्तुत ग्रन्थप्रकाशकतया और आत्मसमर्पणगद्यार्थके अन्यतम व्याख्याकारतया मेरा भी है.

इस विषयमें; परन्तु, अन्य भी एक विचारणीय दृष्टिबिन्दु यह ध्यानमें आता है कि जो श्रीपुरुषोत्तमजीके धर्मपिता श्रीव्रजरायजीने कृष्णाश्रयके विवरणमें प्रतिपादित किया है :

"अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतया अन्तरंगत्वात् तत्र च 'परिहाप्यापि वेदान् त्रीन् कर्माणि विहितानि च गायत्रीमात्रम् आश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः', 'गायत्रीहीनवेदास्तु सांगाअपि च निष्फलाः', - 'सर्वेषु वर्णेषु तथा आश्रमेषु नारीषु नानाद्वयजन्मकेषु दाता फलानाम् अभिवांछितानां द्रागेव गोपालकमन्त्रः एषः' इत्यादिवाक्यैः तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेः तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्तः आहुः 'अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेषु अव्रतयोगिषु तिरोहितार्थदेवेषु कृष्णएव गतिः मम'... 'मन्त्रस्य च परिज्ञानम्' इति एकादशे भगवद्वाक्यात् परिज्ञानेन

मन्त्रशुद्धिः. 'परिज्ञानं' नाम गुरूपसत्त्यादिना विधान-न्यास-पाठार्थ-तात्पर्य-विनियोगादीनां निर्धारः. तदभावो अपरिज्ञानं तेन नष्टेषु स्वरूपस्य श्रावणत्वेऽपि शुद्धयभावेन 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्' इतिवद् अदृश्यमानेषु. क्वचित् कस्यचित् परिज्ञानदर्शनाद् दोषान्तरम् आहुः 'अव्रतयोगिषु' इति, 'अव्रताः वटवो अशौचाः' इति द्वादशस्कन्धे कलिधर्मेषु उक्तेः मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलवास- ब्रह्मचर्याध्ययन-धर्म-परिपालनाभावाद् अव्रतेषु योगः=सम्बन्धो येषां तादृशेषु. तेन दोषान्तरम् आह 'तिरोहितार्थदेवेषु' इति, 'तिरोहितौ'= अप्रतीयमानौ 'अर्थः'=प्रयोजनं तात्पर्यं च 'देवो'=अधिष्ठात्री देवता तौ येषाम्. 'य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेद् जायेरन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि' इत्यादि-श्रुतिप्रभृत्युक्त-निदर्शनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वाद् न तेषाम् इदानीं साधकत्वं नवा मार्गानुकूलत्वम् अतः 'कृष्णएव गतिः मम' इति पूर्ववत्''.

(श्रीव्रज.कृत कृष्णा.विव.५).

ऐसी स्थितिमें क्या स्वमार्गमें मान्य मन्त्रोंके बारेमें भी ऐसी अन्यमन्त्रसाधारण स्थिति अंगीकार करनी; अर्थात्, स्वमार्गीय मन्त्रोंके बारेमें भी अपरिज्ञाननष्टता अव्रतयोगिता तिरोहितार्थदेवता दोष मान्य रखने या नहीं? अथवा इनके मन्त्र होनेकी कथा भी केवल कहने भरकी बात मान लेनी? ऐसी कि जहां ये दूषण प्रसक्त ही न हो पाते हों. जैसे कि उपदेशविषयकशंकानिरासवादमें श्रीपुरुषोत्तमजीने **''अथवा अस्मिन् वाक्ये 'श्रीकृष्णः' इति नामैव मन्त्रः, नाम्नोः मन्त्रत्वं च सर्वशास्त्रप्रसिद्धं शेषस्तु शरणमन्त्रोपदेशः... एतस्य गुरुणा श्रौतत्वेन उपदेशे श्रौतत्वम्, आगमोक्तत्वेन उपदेशे च तान्त्रिकत्वम्... भगवदुक्तत्वेन**

उपदेशे भक्तिमार्गीयत्वम्... यत्तु, ऋष्याद्यभावात् कथं मन्त्रत्वम्? इति, उक्तं तदपि असंगतं, छन्दर्ष्यादिज्ञानस्य फलपौष्कल्यादिसाधकतया मन्त्रत्वज्ञानाय तदनुपयोगात्'' (उपदे.शं.निरा.) इस प्रतिपादनमें स्पष्ट स्वीकारा है.

अतः मन्त्र होनेकी रीति अलग-अलग भी हो सकती हैं. कुछ मन्त्रोंमें छन्द ऋषि मन्त्राधिदेवता बीज कीलक अस्त्र कवच विनियोग सिद्धि आदिका संभार आवश्यक होता है, तावता मन्त्रके सभी प्रकारोंमें उसे अनिवार्य नहीं माना जा सकता. पूर्वमीमांसासूत्रके भावार्थपादके भाष्यमें महाप्रभु भी अतएव ''**अतः कर्मणि यागजपादौ यः साधनभूतः शब्दः स मन्त्रः. 'कर्मकरणः शब्दो मन्त्रः' इति उक्तं भवति**'' (भावा.सू.भा.२।१।३२) ऐसा प्रतिपादन करते हैं. तदनुसार पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीमें चन्द्रसूर्यग्रहणादिकालके नैमित्तिक जपके अलावा भी नित्यकर्मतया भी जपार्थ; इसी तरह, जयन्ती उत्सवोंके निमित्त पञ्चामृताभिषेकोंकी तरह नित्यकर्मतया भी भगवच्चरणारविन्दमें तुलसीदलसमर्पणात्मक कर्ममें भी अष्टाक्षर और सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रोंका विनियोग स्वीकारा ही गया है. फिरभी अन्यान्य ऋषिआदि मन्त्रांगोंका उच्चारण प्रणालीमें दृष्टिगोचर नहीं होता.

अतः सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रमें दो बार प्रयुक्त 'कृष्ण'नामका ही मन्त्रत्व मान लें तो और अवशिष्टांशमें मन्त्रत्व न हो तो महाप्रभुने मन्त्रनीतिके वश गुप्त क्यों रखा? यदि यह विधान केवल अष्टाक्षरदीक्षाके मन्त्रार्थ ही नियत हो, अर्थात् सगद्य पञ्चाक्षरके बारेमें उसका अतिदेश अभिप्रेत न हो तो, सर्वनिर्णय निबन्धके—

''अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः।

स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः ॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिव्होपस्थपरायणाः ॥
व्रात्यप्रायाः स्वतोदुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत्।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ ॥
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति ॥

....

सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।
तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि ॥
कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ॥
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्।
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ॥
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।"
(त.दी.नि.२।२१२-२२८)

यहां वर्णाश्रमधर्मकी दुःसाध्यताकी तरह ही भगवदाज्ञामूलक पुष्टिभक्तिमार्गीय मन्त्रदीक्षार्थ भी भक्तिमार्गोचित गुरुके — कृष्णसेवापरता दम्भादिदुर्गुणोंका अभाव और भागवततत्त्वज्ञता — लक्षणसे रहित होनेपर, 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्' महाप्रभुने स्वयं अपने वंशजोंके भी गुरुपदवीके अयोग्य होनेकी सम्भावना स्वीकार कर "तदभावे स्वयं वापि" का विकल्प मान ही रक्खा है. इन लक्षणोंसे रहित हम आधुनिक आचार्यवंशज इस सुस्पष्टतम विधानको चाहे जितना भी छिपाना चाहें पर वह छिप तो नहीं पाता, सन्देहरहित आचार्योपदिष्ट विधानवशात्! अतः सिद्ध होता है कि

गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणकी चतुष्कर्णवाली मन्त्रगुप्तिकी नीतिका निर्वाह तो स्वयं महाप्रभु भी अशक्य ही मान रहे हैं. फिरभी "**अधुना हि अधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ कृष्णः चेत् सेव्यते भक्त्या कलिः तस्य फलाय हि... ननु एवं सति मुख्यभक्तिमार्गेऽपि समः समाधिः इति चेत् तत्र आह 'कृष्णश्चेत् सेव्यते' इति अवतीर्णो भगवान् सर्वमुक्त्यर्थमिति प्रमेयबलेनैव फलिष्यतीति स्वाधिकाराभावेऽपि ततः फलं भविष्यति इति अर्थः. 'चेद्' इति सेवायां दुर्लभत्वम् उक्तम्**"(त.दी.नि.प्र.१।१९). अतएव प्रभुचरण भी कहते हैं "**मन्त्रोपासन-वैदिक-तान्त्रिक-दीक्षार्चनादिविधिभिः यो अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु**" (भक्तिहंस मंग.). अतः गुरुमुखोपदिष्ट शब्दोंमें ही मन्त्रत्व होनेकी विधिकथा नियामक रह नहीं जाती.

कुल मिला कर ऐसे सोचा जा सकता है कि मूलतः पञ्चाक्षरमन्त्रमें भी मन्त्रत्व तो उसके 'कृष्ण'पदघटित ही होनेके कारण ही है; और, इसी तरह गद्यभागका भी मन्त्रत्व स्वतः न हो कर पञ्चाक्षरके रहस्यके व्याख्यानतया ही है. अतएव पुष्टिलीलाप्रतिपादक षष्ठस्कन्धके निबन्धमें महाप्रभुका अधोनिर्दिष्ट प्रमाणवचन सावधानतया मननीय है :

"**कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका।**
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितः॥
देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम्।
पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरूप्यते॥"
(त.दी.नि.३।६।२-३)

अर्थाद् भगवान् जब पुष्टि या अनुग्रह करना चाहते हों तब सृष्टिके नियामक काल-कर्म-स्वभावकी नियतिका उल्लंघन करके

कृपा बरसाते हैं. अनुग्रह औत्सर्गिक नियमकी कथा न हो कर आपवादिक भगवत्सामर्थ्यकी कथा है. अतएव इसे गुप्त रखनेको भगवन्नामात्मक मन्त्रोंकी वाचिक साधना, भगवद्ध्यानकी मानसिक साधना और भगवदर्चनरूपा कायिक साधना को निमित्त बना कर अपनी अनुग्राहिका शक्तिको छिपायें रखते हैं. भगवान्‌की इस अनुग्रहात्मिका गूढ़ पुष्टिशक्तिको ध्यानमें रख कर देखा जाये तो सर्वमार्गोंकी नश्वरताके साथ-साथ जीवात्माका नि:साधन होना या नि:साधनभाव नि:सन्देह उजागर होते हैं. अत: श्रीकृष्णशरणागतिकी अविनाशिताके तथ्य होनेके आधारपर प्रपन्नात्माका आत्मसमर्पण करना प्रसक्त होता है. इस आत्मसमर्पणद्वारा भक्तिभावकी अनुभावात्मिका भगवत्सेवाके अधिकारसम्पादनार्थ दीक्षामन्त्रका प्रदान-ग्रहण भी आत्मोद्धारके एकमात्र साधन भगवदनुग्रहके अवान्तरव्यापारतया ही अर्थक्रिया समर्थ माना जा सकता है, अन्यथा नहीं. अतएव इन विविध दीक्षामन्त्रोंकी जीवोद्धारकता स्वत: न हो कर भगवदनुग्रहके अवान्तरव्यापारतया ही सिद्धान्ततया मान्य करनी पड़ेगी. अत: इन्हें जीवात्माके स्वीय ज्ञानेच्छाप्रयत्नप्रयुक्त साधनाभिमानके वशाद् अनुष्ठेय बनानेपर इनका निष्फल होना भी एक उजागर तथ्य है. कृष्णाश्रयस्तोत्रमें प्रतिपादित देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मों और भक्ति-ज्ञान-कर्ममार्गों के वैफल्यका तथ्य भी उतना ही उजागर है. इसी आशयके अभिप्रेत होनेके कारण महाप्रभुने "**एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितं कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दु:साध्या इति मे मति:**"(वि.धै.आ.१७) यह विधान सुस्पष्टतम शब्दोंमें किया है. लक्ष्यमें रखना आवश्यक है कि भक्त्यादि मार्गोंको दु:साध्य ही कहा जा रहा है असाध्य नहीं.

अर्थात् स्वीय ज्ञानेच्छाप्रयत्नकी आहंकारिक वृत्तिसे अनुष्ठेय

बनती तो भक्ति भी कलिकालकी चपेटसे बाहर रह न पाती हो तो तदर्थ दिये जाते दीक्षामन्त्रोंकी जीवोद्धारकता भी स्वत:सिद्ध कैसे मानी जा सकती है? अत: समर्पणाधिकारकी उपलब्धि भी अप्रपन्नको सुलभ नहीं है.

अतएव कर्मकाण्डके अन्तर्गत प्रयुक्त होते मन्त्रोंके मूलत: दो रूप स्वीकारे गये हैं : [१]अनुष्ठानप्रकारकद्रव्यदेवतादिलिङ्गस्मारको मन्त्र: (न्यायकोश) [२]अकर्मकरणो मन्त्र: (द्रष्ट. : जैमि.सू.३।८।६।१५).

शाबरभाष्यमें, अतएव,

[१]"मन्त्र: कश्चिद् वेदभागो यो विहितम् अर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति; यथा, 'बर्हि: देवसदनं दामि', मन्त्र:"

[२]"कश्चिद् विधायको; यथा, 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभेत' इति. मन्त्रो जपरूपो 'वैष्णवीम् अनूच्य वाग् यन्तव्या' इति. स्तुतिरूपो 'अग्नि: मूर्धा दिव:' इति. आशीरूप: 'आयुर्दा अग्ने! असि आयु: मे देहि' इति. अभिधानार्थ: 'एषो असि त्वेषो असि' इति."

(शाब.भा.[१]१।४।१।१ [२]१२।४।१।१).

यों मन्त्रोंके जो अनेक प्रभेद बताये गये हैं उनकी तर्ज़पर शरणागतिमन्त्रको विवेक धैर्य या आश्रय की प्राप्ति या संरक्षण के हेतु [१]**"आलौकिकमन:सिद्धौ सर्वथा शरणं हरि:, एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्"**, [२]**"चित्तोद्वेगं विधायापि हरि: यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीला इति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्. तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्रीकृष्ण: शरणं मम' वदद्भिरेव सततं स्थेयम्"** ([१]वि.धै.आ.१३, [२].नव.८-९) इस वचनमें अलौकिकमन:सिद्धिके साधनतया अष्टाक्षर मन्त्र कण्ठत:. स्वीकृत है. इसी तरह शरणागतिके आंगिक उपायरूप—

आनुकूल्यसंकल्प प्रातिकूल्यविसर्जन रक्षिष्यतीति विश्वास भर्तृत्ववरण आत्मनैवेद्य या दैन्यापरपर्याय कार्पण्याविष्करण रूप बाह्याभ्यन्तर प्रयत्नोंके अन्तर्गत भर्तृत्ववरणरूप आभ्यन्तर कर्मांगतया भी शरणागतिमन्त्रको सुखेन सोचा जा सकता है.

फिरभी कर्ममार्गमें परब्रह्मके विभूतिरूप देव या तो मन्त्रात्मक होते हैं या मन्त्राधीन माने जाते हैं. जबकि परब्रह्म पुरुषोत्तम तो [१]**"न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"**, [२]**"न अहं वेदैः न तपसा न दानेन नच इज्यया शक्यः एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवान् असि मां यथा"**([१]मुण्ड.उप.३।२।३, [२]भग.गीता ११।५३), वचनोंके आधारपर प्रवचन=वेद या तद्विहित साधनोंके आधीन अपना पुरुषोत्तम स्वरूप प्रकट नहीं करते. ऐसी स्थितिमें वैदिक या तान्त्रिक मन्त्रोंके आधीन अपना वरद रूप प्रकट क्यों करेंगे? अतः शरणागतिमन्त्रके मानसिक या वाचिक उच्चारणके आधीन यदि भर्तृत्व अंगीकार करते हों तो वरण=पुष्टिका सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा. और वरणके अनुभावतया या अवान्तरव्यापारतया अष्टाक्षरादि मन्त्रोंकी उपादेयता हो तो इन्हें साधनबलतया न ले कर प्रमेयबलतया ही स्वीकारना पड़ेगा.

परवर्ती व्याख्याकारोंने मन्त्रोकें अन्य भी अनेकविध प्रभेद दरसाये हैं : विधायक, अस्यन्त, आशीः, संख्या, प्रलपित, परिदेवन, प्रैष अन्वेषण, प्रश्न आदि ५२ प्रकार (द्रष्ट.मीमां.को.मन्त्रः)के मन्त्रोंमें ३८ वें प्रकार 'प्रधानभूतदेवताविधि' प्रकारके मन्त्रोंसे प्रस्तुत अष्टाक्षर-सगद्यपञ्चाक्षरादि मन्त्रोंका अंशेन साजात्य होनेपर भी यही एक मौलिक अन्तर दोनोंके बीच सर्वथा अवधारणीय होता है

कि कर्ममार्गमें प्रधान या अप्रधान दोनों ही प्रकारके देव नियमेन कर्मांग होते हैं "'**अपिवा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः' यागे न देवता प्रधानं किन्तु यज्ञकर्मैव प्रधानं शब्दपूर्वत्वात् फलादेः. यत् शब्दः आह तत् प्रमातव्यम्. शब्दश्च कर्मणां फलम् आह... ननु द्रव्य-देवता-क्रियं 'यजत्य'र्थः? सत्यम् एतत् किन्तु गुणत्वे देवताश्रुतिः. द्रव्यदेवतं हि भूतं, भावयितव्यो यजत्यर्थ;. भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्याय उपदिश्यते. ततश्च कर्मणि प्रधाने गुणभूता देवता**" (मीमां.को.सू.९।१।४।९). ऐसी अंगरूपा देवोंकी गौणता प्रपत्तिमार्ग या भक्तिमार्ग में कथमपि स्वीकारी नहीं जा सकती. प्रपत्तिमार्ग हो या भक्तिमार्ग दोनोंमें ही जैसा कि रामानुज श्रीवेदान्तदेशिक कहते हैं :

"**त्वद्भक्तिपोतम् अवलम्बितुम् अक्षमाणां**
पारं, परं वरद! गन्तुम् अनीश्वराणाम्।
स्वैरं लिलंघयिषतां भववारिराशिं
त्वामेव गन्तुमसि सेतुर् अभंगुरः त्वम्॥"
(वर.रा.पञ्चा.३१)

अर्थाद् भक्तिकी दिशामें प्रस्थानोपम प्रपत्तिमार्गमें ही जब प्रपत्तिका भी धर्मतया अवलम्बन करनेके बजाय स्वयं प्रपदनीय भगवान्का ही अवलम्बन धर्मितया अभिलषित हो तब उस प्रयोजनवश दिये जाते मन्त्रोंमें प्रमाणबल या साधनबल कथमपि सिद्धान्ततः मान्य हो नहीं पाता. अर्थात् भगवान्का प्रमेयबल ही वांछनीय होता है.

जहां तक तान्त्रिक मन्त्रोंका सवाल है उनके मूलतः तीन प्रभेद प्रतिपादित हुवे हैं : [१]"स्वाहा'न्त स्त्रीमन्त्र, [२]"नमो'न्त नपुंसक मन्त्र [३]शेष पुंमन्त्र. अतः गोपालमन्त्र तो स्वाहान्त भी उपलब्ध

होता है और नमोन्त भी. परन्तु जिस हेतुसे उसे तन्त्रशास्त्रमें वश्यादि कर्मोंके अंगतया प्रतिपादित किया गया है, उस अर्थमें तो वह निश्चित ही विभूतिके अन्याश्रयका दोषरूप होगा. परम्परागत वैष्णवी दीक्षाके मन्त्रतया, परन्तु, स्वीकारा जाता हो तब वह पुरुषोत्तमाभिधानात्मक भी हो सकता है. अतएव भगवदनुग्रहका अनुभावरूप या अवान्तरव्यापाररूप भी सिद्ध हो पाता है, अर्थात् साधनबलवान् नहीं. यही बात गायत्रीमन्त्रकी भी अनेक व्याख्याओंके आधारपर भी फलित होती है.

यहां अवधारणीय हो जाता है कि महर्षि यास्कने 'मन्त्र'पदकी निरुक्ति "**मन्त्राः मननात्**" (निघ.७।३।१२) दरसायी है. इसकी श्रीदुर्गाचार्यकृत विवृतिमें "**तेभ्यो (मन्त्रेभ्यो) हि अध्यात्माधिदेवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तद् एषां मन्त्राणां मन्त्रत्वम्**" (निघ.विवृ.७।३।१२) ऐसा विधान करते हैं. परन्तु तब यह प्रश्न उठ सकता है कि गायत्री और गोपालमन्त्र तो आर्षपरम्परासे उपलब्ध मन्त्र होनेके कारण मन्त्र माने जा सकते हैं. अष्टाक्षर या सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रको, मननौपयिक मन्त्रतया क्यों मान्य करना? वाल्लभ सम्प्रदायमें महाप्रभुकी स्वगोष्ठिमान्य "**साक्षाद् भगवता प्रोक्तं**" (सिद्धा.रह.१) उक्ति सर्वमान्य नहीं हो पायेगी.

इस विषयमें भी महर्षि यास्कका एक मननीय विधान उद्धृत करना यहां अवसरप्राप्त होता है. यथा "**मनुष्याः वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रूवन् 'को नः ऋषिः भविष्यति?' तेभ्यः एनं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहम् अभ्यूहळम्. तस्माद् यदेव किञ्चन अभ्यूहति आर्षं तद् भवति**" (निघ.१३।१।१३). श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणादिके बहुविध आर्ष वचनोंसे अविरुद्ध अभ्यूह होनेके कारण इसे आर्ष माननेमें

किसी तरहकी अनुपपत्ति उठ नहीं सकती. अतएव महाप्रभु विधान करते हैं :

> **"मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितो यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः. प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि प्रमाणं भगवद्वाक्यं, वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपं. साधनञ्च फलादपि अधिकमिति. फलञ्च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकमिति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्. तत्र हेतुः 'मोचकः सर्वथा यतः' इति, सहि सर्वानेव येनकेनचित् प्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात्, तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत?... विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणतां, सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि. कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते".**
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२२२-२२६)

अतः महाप्रभुद्वारा किया गया वैदिक-तान्त्रिक मन्त्रोंका अभ्यूह न भी हो फिरभी भगवल्लीलाप्रतिपादक शास्त्रोंमें भगवान्के गुणधर्मचरित्रोंके आधारपर किये गये ऊहरूप मन्त्र हो ही सकते हैं. अतः मन्त्रोंका जो अभ्यूह हो वह भी आर्ष मन्त्रवत् ही समादरणीय होता माना जाता है. अन्ततः पूर्वमीमांसाकारोंने भी "**मन्त्रलक्षणं 'मन्त्रोऽयम्'**

इति अभियुक्तानां समाख्यानम् इत्येव अनुगतं लक्षणम्" (मीमा.को.सू.२।१।-७३२) यही मान्य किया है.

इसी तरह नामादिकोशगत अर्थपर दृष्टिपात करनेपर यह कुछ अधिक भी स्फुट हो सकता है. क्योंकि "**'मत्रि' गुप्तपरिभाषणे**" (पाणि.धा.पा.चुरा.१६८०) के अनुसार गुप्तपरिभाषणार्थक 'मन्त्र'पद है. तदनुसार वाचस्पत्यं कोशका कहना है कि "**गुप्तभाषणे रहसि कर्तव्यावधारणार्थम् उक्तौ, देवादीनां साधनार्थं तन्त्राद्युक्ते शब्दभेदे...**" (वाचस्पत्यम्).

अत: वर्तमानमें पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाके कलिकालवशात् विकृत स्वरूपको थोड़ी देरके लिये भूल कर मूलत: सिद्धान्ताभिमत भगवत्सेवाका स्वरूप, जैसा भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—

> "**अत्र इदम् आकूतं : भक्तिमार्गो बहुविधइति कपिलदेववाक्यात् केचन भक्ता:** ***स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारै: सेवां कुर्वन्त:*** **तयैव निर्वृत्त्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते... 'अनाविष्कुर्वन्'इति भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति आशयेन ते धर्मा: उक्ता:. गोपने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति, यतो भगवता समन्वयं सम्बन्धं प्राप्य वर्तते अतो हेतो: तथा... एतेन यावद् अन्त:करणे भगवत्प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहि: आविष्करणं भवति. प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्**".
>
> (अणुभा.३।४।४७-४९)

इस विधानका धैर्यपूर्वक विमर्श करनेपर सिद्ध हो जाता है कि शरणागतिमन्त्र हो या सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्र हो या वैदिक

गायत्रीमन्त्र हो या औपनिषदिक गोपालमन्त्र, जिसे तन्त्रशास्त्रने सकामप्रयोगार्थ भी अपनाया है, इन सभीकी गोपनीयता मूलत: अपनी शरणागतिपूर्विका पुष्टिभक्तिमार्गीय भगवत्सेवाके गोप्य होनेकी अनिवार्यतावश ही है. अत: स्वतोगोप्यता न हो कर परतोगोप्यता है.

वैसे वर्तमान स्वमार्गीय साधनाप्रणाली दुरवस्था तो इस पराकाष्ठा पर पहुंच गयी है कि जैसे कोई फलका भीतरी भाग, जो उसकी आवरक त्वचाके कारण ताज़ा रहता है, उसे तो निरावरण कर दे और त्वचाको गुप्त रखनेपर अतिशय भार देने लग जाये! यह तो लाभपूजाभिवृद्ध्यर्थ नितान्त हास्यास्पद मूढ़चेष्टा ही लगती है.

उदाहरणतया —

केन प्रेमनिवेदिना नहि सदा यन्नोदितं नैकधा!
त्वं मेऽतिप्रेमास्पदो हृदि तनौ प्रेष्ठस्तु प्राणादपि।
औत्सुक्यं कथने तथाच श्रवणे मन्त्रत्वमेतस्य वै
वाक्यस्यास्य बहूदितस्य तु कथं स्यात् प्रेममन्त्रात्मता?॥

अत: **"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र: चतुष्कर्ण: स्थिरो भवेत्"** (पञ्चतन्त्र : १/१०८) का नियम भी प्रस्तुत मन्त्रमूलक मननीय देवानुग्रह तन्मूलक भगवल्लीलात्मकसेवाधिकारौपयिक दोषनिवारण और अन्तमें एतन्मूलक भक्तिमार्गीय अलौकिक सामर्थ्यादि सभीकी नितान्त गोपनीयताके बारेमें है. मन्त्र तो, उसके प्रदानद्वारा मिलती लाभपूजाका मोह न हो तो, उस दिव्य साधनानुभूति एवं फलानुभूति की मननात्मिका त्वचामात्र जैसे होते हैं. इस मननात्मिका त्वचाके संगोपन करनेपर फल शुष्क या नि:स्वाद नहीं बन जाता.

अतएव ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रके प्राकट्यकी ८४ वैष्णवन्की वार्ताके अन्तर्गत दामोदरदास हरसानीकी वार्तामें महाप्रभुकी ऐसी ही उत्सुकता दरसायी गयी है :

"जीव तो दोषसहित हैं और श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तो गुणनिधान हैं सो ऐसे सम्बन्ध कैसे होय!... श्रीठाकुरजी कहें जो तुम जा जीवको नाम देउगे तिनके सकल दोष निवृत्त होइंगे... ये बात श्रावण सुदि एकादसीके दिन मध्यरात्रकों भई. प्रात:काल पवित्रा-द्वादसी हती. तातें पवित्रा सूतको सिद्ध करि राख्यो हतो सो पवित्रा धराये. ता समेके अक्षर हैं ताकों श्रीआचार्यजीने 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थ कियो है. ता समें दामोदरदास नेक दूरि सोये हते सो तातें दामोदरदाससों श्रीआचार्यजीने पूछी जो दमला! तें कछु सुन्यो? तब दामोदरदासजीने कह्यो जो महाराज! मैंने श्रीठाकुरजीके बचन सुनै तो सही परि समुझ्यो नाहीं".

(८४ वै.वा.१।१)

हम देख सकते हैं "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र:" नियमका आंशिक उल्लंघन हो जानेपर भी दामोदरदासजीने अंशत: निभाया भी कि "सुन्यो परि समुझ्यो नाहीं" ऐसा कह कर ठाकुरजीके मुखारविन्दके बजाय अपने गुरुके मुखसे उस सिद्धान्तके रहस्यको समझनेकी उत्सुकता प्रकट की. क्योंकि यहां देखा जा सकता है कि भगवान्ने आचार्यचरणको सम्बोधित करके मन्त्रप्रदान किया दामोदारदासजीको सम्बोधित करके नहीं. अत: भगवदुपदेशको निजाचार्यद्वारा जबतक निजान्तेवासीको सम्बोधित करके उपदेश नहीं दिया जाता तब तक मन्त्रको निजमननार्थ मान लेना एक धांधली ही होती. वह सिद्धान्त क्या है जिसका रहस्य ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र है?

कुछ दो तीन श्रुतियां इस सन्दर्भमें अवधारणीय बनती हैं [१]**"ब्रह्म दासा: ब्रह्म दाशा: ब्रह्मैव इमे कितवा उत"**, [२]**"स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि"**, [३]**"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... तद् एतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एक: सन् एतत्त्रयम्"** ([१]आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त, [२]छान्दो.उप.६।८।७, [३]बृह.उप.१।६।-३). इन वचनोंका भलीभांति अवगाहन करनेपर यह सृष्टिकी वस्तुमात्रके ब्रह्मतादात्म्यका अर्थात् सभी भिन्न-भिन्नतया प्रतीत होती वस्तुओंके भेदका सहिष्णु ऐसे ब्रह्मके अभेदका सिद्धान्त उपनिषदोंको नितान्त अभिप्रेत है. इसी भेदसहिष्णु-अभेदके सिद्धान्तका रहस्य निर्दोष ब्रह्मका दोषसहिष्णु होना भी है. ब्राह्मैक्यके मौलिक सिद्धान्तमें भगवल्लीलामें प्रकट हुवे दोषको महाप्रभुने भगवल्लीललत्मक माना है : "**अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदत: तद् भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविध:. यत् किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरि: स्वयम्. विरुद्धपक्षा: सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते. योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहमिति**" (सुबो.२।९।३२). यही बात स्वयं भगवान्ने भी महाप्रभुको समझायी "**ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयो: सर्वदोषनिवृत्ति:**" (सिद्धा.रह.२).

वाल्लभ सम्प्रदायमें अंगीकृत, अत:, चारों मन्त्रों — शरणागति सगद्य पञ्चाक्षर गायत्री और गोपालमन्त्र — की एकार्थप्रतिपादकतारूपा एकवाक्यता प्रमाणित करनेको प्रस्तुत ग्रन्थकलेवरमें चारों मन्त्रोंकी सम्प्रदायाभिप्रेत व्याख्या प्रकाशित करनेका यह विनम्र प्रयास है. अस्तु.

सम्पादकीय तथा कृतज्ञताज्ञापन

ग्रन्थकार और ग्रन्थमातृका का विवरण

१.प्रस्तुत ग्रन्थके कलेवरमें सर्वप्रथम गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ

प्रभुचरणके द्वितीयात्मज श्रीगोविन्दरायजीके ज्येष्ठात्मज श्रीकल्याणरायजीके पुत्र महानुभाव श्रीहरिरायजी (जन्मसंवत् : वि.सं.१६४७) द्वारा विरचित अष्टाक्षर तथा सगद्य पञ्चाक्षर पर लिखे लघुग्रन्थोंको संकलित किया गया है.

वाल्लभ सम्प्रदायमें इनका महत्त्व असाधारण है क्योंकि जैसे लघुकाय सुबोध तत्त्वविवेचनात्मक तथा कर्तव्योपदेशात्मक ग्रन्थोंका विपुल साहित्य इन्होंने प्रकट किया उसका अन्य उदाहरण मिलना दुर्लभ ही है. सुबोधिनी-षोडशग्रन्थोंपर भी इनका विरचित साहित्य अल्प नहीं है. सेवोपयोगी व्रजभाषा तथा संस्कृतभाषा में इनके द्वारा लिखे गये अतिशय भाववाही गेयपदोंका साहित्य तो निरतिशय भगवल्लीलाभावसे ओतप्रोत चमत्कृतिजनक ही है. वैसे सम्प्रदायमें इनके दो प्रमुख ग्रन्थ साहस्रीभावनासे भी बढ़ कर ४१ शिक्षापत्रों तथा व्रजभाषा के साहित्य का तो जनसाधारणमें स्वमार्गीय निष्ठाके आविष्करण और संवर्धन में अभूतपूर्व प्रदान है.

यहां इस ग्रन्थमें इनके [१]अष्टाक्षरनामविवृति [२]स्वमार्गीयशरणद्वयनिर्णय [३]अष्टाक्षरपूर्वपक्षनिरास [४]निवेदनमन्त्रविवृति [५]निवेदनतात्पर्यार्थ [६]ब्रह्मसम्बन्ध-वाक्यकठिनांशविवेचनम् [७]स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणान्तर्गत शर-णसमर्पण [८]जपसमये स्वरूपध्यानम् [९]पुष्टिमार्गीयध्यानप्रकारविवेचनम् इतने लघुकाय ग्रन्थ संकलित हैं. इन सभीके अवलोकन करनेपर महानुभाव श्रीहरिरायजीका स्वमार्गीय दोनों या तीनों दीक्षामन्त्रोंके बारेमें विचार साकल्येन परिज्ञात हो पाता है.

इनमें अष्टाक्षरनामविवृति और निवेदनमन्त्रविवृति ये दो ग्रन्थ श्रीरणछोड़दास वरजीवनदास श्रोफने सरस्वती मुद्रणालयमें वि.सं.१९७४ में

गद्यमन्त्रकी पांच व्याख्याओंके साथ प्रकाशित करवाये थे. शेष सभी ग्रन्थ मूलत: 'श्रीहरिराय-वाङ्मुक्तावली' भाग प्रथममें से लिये गये हैं. इस संग्रहकी अनेक आवृत्ति पूर्वमें प्रकाशित हुयी हैं. श्रीपुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियादके तत्त्वावधानमें श्रीकंचनलाल कांटावालाने अन्तिम आवृत्ति ई.स.१९७४ में श्रीकेशवलाल काशीराम शास्त्रीद्वारा सम्पादित करवा कर प्रकाशित की थी. इसके अलावा एक मातृका भी वि.सं.१९७३ में श्रीमद्गोकुलनिवासी नारायण दत्तात्मज पं.गणेशदत्तोपनाम वल्लभदासद्वारा हस्तलिखित उपलब्ध हुयी उस प्रतिसे भी हमने संवादित किया है. मूलत: मुद्रित संस्करणके आधारपर ये ग्रन्थ यहां संकलित किये गये हैं. इन सभीके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं.

२.वाल्लभ साहित्यके बहुविध समृद्धिकारक अनेकानेक ग्रन्थोंके निर्माता देदीप्यमान प्रकाशकार महाप्रभुसे सातवीं पीढ़ीपर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी (वल्लभवंशवृक्ष : तृतीय/२ गृह सूरत, जन्म. वि.सं.१७२४) की भी मन्त्रव्याख्या यहां संकलित है. ये इन्होंने स्वतन्त्रतया नहीं परन्तु महाप्रभुकृत सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थकी जो व्याख्या लिखी है, उस प्रसंगमें आत्मनिवेदनगद्यके भावार्थपर प्रकाशपातन किया है. उसे ही यहां संकलित किया गया है. यह व्याख्या श्रीपुरुषोत्तमजीके अपरावतारसम श्रीमूलचन्द तेलीवाला और श्रीधीरजलाल सांकलिया ने वि.सं.१९८२ में प्रकाशित करवायी थी वहींसे संकलित है.

३.श्रीव्रजाभरण दीक्षित वल्लभवंशवृक्ष (प्रथम/११ गृह) में श्रीरामकृष्णजी(वि.सं.१६७५)के पुत्र श्रीजगन्नाथजी (वि.सं.१७०८) के पुत्र हैं. ये भी महाप्रभुसे सातवीं पीढ़ीपर (जन्म : वि.सं.१७४७)

हुवे हैं. इनकेद्वारा विरचित अन्य भी अनेक ग्रन्थ, नामशः, श्रीवल्लभाख्यानटीका (जो हमने प्रकाशित करवा दी है), श्रुत्यर्थानन्दसन्दोह आदिका विवरण शुद्धाद्वैत वाङ्मयके इतिहासमें उल्लिखित है. भक्तकवि दयारामभाई इन्हें अपना गुरु मानते हैं. इनको वैदिक साहित्यका अच्छा अभ्यास होनेसे श्रुतिवचनोंके उद्धरणोंसे भरपुर व्याख्या लिखते हैं. यह भी श्रीरणछोड़दास वरजीवनदास श्रोफ ने जो सरस्वती मुद्रणालयमें वि.सं.१९७४ में गद्यमन्त्रकी पांच व्याख्याओंके साथ प्रकाशित करवायी थी, उसमेंसे संकलित है.

४.महाप्रभुसे सातवीं पीढ़ीपर ही (वल्लभवंशवृक्ष पञ्चम गृहमें) प्रभुचरणके पञ्चम पुत्र श्रीरघुनाथजीके प्रपौत्र श्रीविट्ठलरायजी (जन्म वि.सं.१६९८) के पुत्र श्रीवल्लभजी (जन्म वि.सं.१७२९) का उल्लेख मिलता है. ये कदाचित् प्रस्तुत गद्यमन्त्रकी विवृतिके रचयिता हो सकते हैं. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके चतुर्थ आत्मज श्रीगोकुलनाथजीका भी दूसरा नाम 'श्रीवल्लभ' था. यों 'विट्ठलरायात्मज वल्लभ' नामवाले तीन ग्रन्थकार मिलते होनेके कारण तीनमें कौन किस ग्रन्थका कर्ता है यह बहुधा सन्देहास्पद हो जाता है. इतना तो स्पष्ट है कि काका वल्लभजीकी तरह लेखकार वल्लभजी भी श्रीपुरुषोत्तमजीके समकालिक थे. श्रीमद्भागवतसुबोधिनीपर श्रीपुरुषोत्तमजीके साथ एक टीमवर्ककी तरह इन्होंने सर्वप्रथम दशमस्कन्धसे 'लेख'नामिका व्याख्या लिखनी शुरु की थी. बादमें दशमव्याख्याके पूर्ण होनेपर ये प्रथम-द्वितीयपर लेखनार्थ प्रवृत्त हुवे परन्तु तृतीय तक नहीं पहुंच पाये. श्रीपुरुषोत्तमजी प्रथमसे प्रारम्भ कर तृतीय स्कन्धके बाद दशम तक पहुंचे; परन्तु, वे भी पूर्ण न कर पाये सो एकादशपर ही प्रकाश लिख पाये. यह परस्पर सहयोगकी एक अद्भुत कथा है. दो विट्ठलरायात्मज वल्लभजीमेंसे किसी

एक वल्लभजीकी व्याख्या भी श्रीरणछोड़दास वरजीवनदास श्रोफ ने सरस्वती मुद्रणालयमें वि.सं.१९७४ में गद्यमन्त्रकी पांच व्याख्याओंके साथ प्रकाशित करवायी थी. सो वहींसे संकलित है. इस ग्रन्थकी अन्य भी हस्तलिखित मातृका प्राप्त हुयी, जिनमें एक तो स्वयं व्रजाभरणजीके हस्ताक्षरोंमें वि.सं.१७६६ भाद्रपदसुदि १ के दिन काका वल्लभजीके पुत्र गोस्वामिश्रीमुरलीधरजी (प्रथम/२गृह जन्म वि.सं.१७३१) से लेकर लिखी होनेका उल्लेख भी मिलता है. अत: एक सम्भावना यह भी प्रबल बन जाती है कि काका वल्लभजी इस व्याख्याके लेखक हों परन्तु उनकी भक्तिवर्धिनीपर एक व्याख्या प्रकाशित है और यहां भी ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रके साथ एक भक्तिवर्धिनी व्याख्या जुड़ी हुयी है. सो कोई कारण नहीं एक व्यक्ति एक ही ग्रन्थपर दो व्याख्या अकारण लिखे. सो निष्कर्षतया यह व्याख्या लेखकार वल्लभजीकी है यह स्वीकार करनेमें कोई विप्रतिपत्ति सामने नहीं आती.

५.श्रीत्रिविक्रमात्मज श्रीबालकृष्ण(लालूभट्ट)जीके पूर्वपुरुष श्रीयज्ञनारायण भट्टके पुत्र श्रीविश्वनाथजी महाप्रभुके शिष्य थे और महाप्रभु अपने द्वितीयात्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके लिये इनकी श्रीरुक्मिणी कन्याका मांगा ले कर गये, तब गुरुशिष्य और समधी यों दो-दो सम्बन्ध निभानेकी कठिनाई बतानेपर महाप्रभुने आश्वस्त किया कि दोनों निभेंगे. तब अपनी कन्या देने ये राजी हो गये. तबसे इस परिवारके साथ वल्लभवंशजोंके उभयविध सम्बन्ध अद्यावधि निभते आ रहे हैं. ये लालूभट्टजी श्रीरुक्मिणीजीके पितासे छट्ठी पीढीपर आते हैं. महाप्रभुके ग्रन्थोंपर इनकी 'योजना' नामक व्याख्या ग्रन्थाशयको हृदयारूढ़ बनानेमें निरतिशय अध्येतव्य होती है. इनकी निवेदनशरणागतिपदार्थस्वरूपनिर्णयरूपा व्याख्या मूलत: हमारे

द्वारा प्रकाशित इनके 'निर्णयार्णव' नामक ग्रन्थकी प्रथम तरंगसे तथा सिद्धान्तरहस्यग्रन्थकी व्याख्याके परिशिष्टमें मिलते 'निवेदनविचार:' से यहां संकलित की गयी हैं. ये जयपुरके महाराज सवाई जयसिंहके समकालिक तथा उनकी धर्मसभामें उपस्थित होनेवाले विभिन्न साम्प्रदायिक विद्वानोंके साथ शास्त्रचर्चा करते थे. इनके ग्रन्थोंमें प्रमेयरत्नार्णव निर्णयार्णव सेवाकौमुदी षोडशग्रन्थोंपर श्रीमद्भागवतसुबोधिनीपर योजना प्रकाशित हैं. अणुभाष्ययोजनाकी, परन्तु, एक मातृका प्रस्तुत लेखकको मिली भी थी, दुर्दैवविपाकवश जिसके प्राय: सभी पृष्ठ दीमकद्वारा पत्रके मध्यभागमें पूर्णतया खा लिये गये होनेसे पाठनिर्धारण अशक्य ही था. अन्य कुछ प्रतियां किन्हीं गोस्वामिपरिवारमें उपलब्ध होनेपर भी न तो देना और न स्वयं प्रकाशित करवाना उन्होंने आवश्यक समझा!

६.यह व्याख्या श्रीरणछोड़दास वरजीवनदास श्रोफ ने सरस्वती मुद्रणालयमें वि.सं.१९७४ में गद्यमन्त्रकी पांच व्याख्याओंके साथ प्रकाशित करवायी थी. सो वहींसे संकलित है. ग्रन्थकारके बारेमें किसी भी तरहकी कोई कड़ी मिलती नहीं है.

७.श्रीकृष्णतापक्लेशानन्ददायिनी व्याख्या प्रस्तुत लेखककी है. यह इदम्प्रथमतया प्रकाशित हो रही है.

८.यह व्रजभाषाटीका महाप्रभुसे दसवीं पीढ़ीपर गोपालात्मज श्रीगिरिधरजी (वल्ल.वं.वृ.षष्ठ/३काशी जन्म वि.सं.१८४७) द्वारा रचित है. ये अणुभाष्यविवरण विद्वन्मण्डनहरितोषणी शुद्धाद्वैतमार्तण्ड श्रुतिरहस्य आदि अनेक ग्रन्थोंके कर्ता हैं. यह भी श्रीवरजीवनदासके प्रकाशनसे संकलित है.

९.प्रभुचरणविरचित गायत्रीव्याख्या सर्वप्रथम श्रीमगनलाल शास्त्रीने 'श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितं श्रीमद्गायत्रीभाष्यम्' के साथ सम्पादित कर प्रकाशित करवाई थी. इसकी चतुर्थ आवृत्ति शास्त्रीजीके शिष्य श्रीवाडीलाल नगीनदास शाहने वि.सं.२०१७ निर्णयसागर प्रेस मुंबईमें प्रकाशित करवाई थी. प्रस्तुत संस्करणमें वहींसे संकलित कर तीन व्याख्या पुनःप्रकाशित कर रहे हैं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यप्रादुर्भावित भाष्य तो महाप्रभुके नामका दुरुपयोग करनेके व्यसनशील परमोत्साही व्यक्तिकी सर्वथा अविवेकपूर्ण कृति है. समादरणीय शास्त्रीजी तथा श्रीवाडीलालभाई, जो प्रस्तुत सम्पादक-लेखकके वाल्लभ साहित्यके अध्ययनके एक अन्यतम प्रेरणास्रोत रहे थे, उनके लक्ष्यमें यह तथ्य क्यों नहीं आया, यह विस्मयजनक कथा है! यह गायत्रीभाष्य महाप्रभुविरचित हो नहीं सकता इसके अकाट्य प्रमाण इसीमें उपलब्ध हो जाते हैं :

१.महाप्रभुके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणविरचित सर्वोत्तम स्तोत्र तथा अणुभाष्यके **'अन्तरा भूतग्रामवद्'** अधिकरणगत **'व्यतिहारो विशिंषति हीतरवद्'** (ब्र.सू.३।३।-३७) भाष्य अक्षरमात्राके परिवर्तन बिना यहां किसी तरहकी चतुराईके बिना कॉपी-पेस्ट किया गया मिलता है. ऐसी स्थितिमें यह भाष्य महाप्रभुविरचित कैसे हो सकता है?

२.महाप्रभु तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणकी कारिकाके प्रकाशमें तो सुस्पष्ट शब्दोंमें **"'तत् त्वम् असि' इति वाक्यं न महावाक्यम् इति आह"** (त.दी.नि.प्र.६१) ऐसे विधानद्वारा तथाकथित महावाक्योंका महावाक्य होना नकार रहे हैं. जबकि इस

गायत्रीभाष्यमें **"वेदोक्तमहावाक्यात् तत्त्वमसि"** यों अविवेकपूर्णतया महावाक्यतया बिरदाया जा रहा है!

३.यदि महाप्रभुविरचित गायत्रीमन्त्रपर कोई भाष्य होता प्रभुचरणको उसकी व्याख्या लिखनी चाहिये थी अथवा स्वतन्त्र व्याख्याकी रचनामें कोई तो हेतु प्रदान करना चाहिये था. परवर्ती गायत्रीपर लेखिनी चलानेवालोंका भी इस बारेमें आत्यन्तिक मौन कुछ गड़बड़ हुयी होनेकी गवाही देता है.

४.इस तथाकथित महाप्रभुकृत गायत्रीभाष्यको प्रमापित करनेकी दुच्चेष्टा जो प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथ-जीके नामसे की गयी, यथा, **"महावेदोपादानात् 'कृष्ण तवास्मि' इति महावाक्यभावार्थानुरोधाद् महावाक्ये स एव 'तत्त्वमसि'भावार्थ-'कृष्ण तवास्मि'भावार्थयोः ऐक्यसम्प्रदाया-नुमित्या यो मयार्थनिष्कर्षः कृतः सएव निवेदितात्मभिः स्मर्तव्यो नान्यः इत्यत्र महावाक्यार्थरहस्यं मया भावनामञ्जूषायाम् उद्घाटितं विज्ञेयम्"** ऐसी अस्तव्यस्त भाषाके प्रयोगद्वारा ही केवल नहीं प्रत्युत व्याख्याकी पुष्पिकामें भी **"इति श्रीमदाचार्यचरणकृतगायत्रीविवृत्युपरि स्वतन्त्रलेखः तदात्मजा-त्मजानाम्"** वचनविन्यासद्वारा भी इस व्याख्याके श्रीगोकुलनाथजीद्वारा विरचित नहीं होनेके तथ्यको उजागर करता है. उल्लेखनीय है कि 'भावनामञ्जूषा' नामक कोई भी ग्रन्थ श्रीगोकुलनाथजीका अद्यावधि प्रकाशित या उपलब्ध होता नहीं है.

यद्यपि सम्प्रदायमें महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तोंके निरूढ द्वेषी वल्लभपंथिओंकी तो यह बायबल है. है, परन्तु, धूर्तछद्मके अलावा

अन्य कुछ नहीं, यह विधान करनेको बाधित होना पड़ता है. यही हेतु है कि इसे प्रस्तुत संस्करणमें संकलित करना उचित नहीं लगा.

१०.गायत्रीविवरणकार मठेश इन्दिरेश, सम्भवत: श्रीनाथ भट्ट एक व्यक्ति या भिन्न भी हो सकते हैं. सेवाफल ग्रन्थके व्याख्याकार मठेश लक्ष्मण भट्टका अपनी सम्पादकीयमें परिचय देते हुवे श्रीमूलचन्द तेलीवालाका कहना है कि "**इमे लक्ष्मण भट्टा: मठेशश्रीनाथभट्टपुत्रगोपीनाथ-भट्टसूनव: इमे तु सर्वथा अज्ञातपूर्वा:. यद्यपि ग्रन्थान्ते तेषां नाम न विद्यते तथापि तत्पुस्तकोपरि 'श्रीनाथभट्टस्य पुत्रश्रीगोपीनाथभट्टस्य पुत्रलक्ष्मणभट्टस्य इदम्' इति दृश्यते. एतेषामन्येऽपि ग्रन्था: पं.गट्टूलालहस्तलि-खितसंग्रहे दृश्यन्ते. तत्रापि ग्रन्थान्ते इतिश्री समाना**" आन्ध्र भट्टवंशवृक्षके सम्पादक पोतकूर्चि श्रीकण्ठमणि शास्त्रीजीने इस 'मठपति'='मठेश' कुलनामवाले वंशका कोई भी वंशज आज बचा नहीं है, ऐसा विधान किया है. इससे अधिक कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता. यह व्याख्या भी उल्लिखित श्रीवाडीभाईद्वारा प्रकाशित गायत्रीभाष्यमें यहां सम्पादित-संकलित की गयी है.

११.श्रीघनश्याम भट्टात्मज शतावधानी शीघ्रकवि भारतमार्तण्ड श्रीगोवर्धन (गट्टूलालाजी)के पूर्वपुरुष श्रीअल्लाड भट्ट तञ्जावुर नगरसे प्रभुचरणके समय गोकुल आ कर बस गये थे. प्रभुचरणकी चतुर्थात्मजा श्रीदेवका कन्याका विवाह इनके साथ हुवा था. ये श्रीगोर्वधन भट्ट इन अल्लाड भट्टसे १२वीं पीढ़ी पर आते हैं. गट्टूलालाजी बाल्यकालसे नयन खो चुके थे परन्तु गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके समकक्ष वैदुष्य किसीको प्राप्त और प्रकट हुवा तो नि:सन्देह इनका नाम लिया जा सकता है. आर्यसमाजके संस्थापक महर्षि

दयानन्द, सभी वाल्लभोंके बारेमें गालीप्रदानमें अतीव मुखरित होनेपर भी, इनकी प्रशंसा कर पाये. इन्होंने गुजराती व्रज और संस्कृत भाषामें प्रचुर मात्रामें लेखनसाहित्य प्रकट किया था. जिनमेंसे कुछ 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड' 'वेदान्तचिन्तामणि' 'वल्लभाख्यानव्याख्याटिप्पणी' और 'प्रभाञ्जनमारुतशक्ति' तो हमें पुन:प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुवा. प्रस्तुत गायत्री-अर्थ पूर्वोल्लिखित श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित-प्रकाशितकी चतुर्थावृत्ति वि.सं.२०१७ वर्षमें प्रकाशित संस्करणसे ही संकलित है. इनके अन्य भी ग्रन्थोंकी तरह यह ग्रन्थ भी इन्होंने प्रस्तुत लेखकके धर्मप्रपितामह गोस्वामी जीवनेशाचार्यके लिये ही "**स्वाचार्यै: श्रीविट्ठलेशै: दर्शितं पुरुषोत्तमै: गायत्र्यर्थं यथाबुद्धि श्रीमज्जीवनतुष्टये**" लिखा है. यहां 'स्वाचार्यै:' पदका तात्पर्य शास्त्रीजीद्वारा प्रकाशित तथाकथित श्रीवल्लभाचार्यकृत गायत्रीभाष्यके अर्थमें नहीं लेना है परन्तु श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धके आद्य मंगलाचरणमें जो महाप्रभुने गायत्रीमन्त्रकी व्याख्या दी है उसके उल्लेखतया ही लेना उचित होगा.

१३.गोपालमन्त्रकी व्याख्या उपर्युल्लिखित काका वल्लभजीकी लिखीकी एक मातृका श्रीहरिरायजीके ग्रन्थकी मातृकाके परिशिष्टमें हमारे सौभाग्यवश अकस्माद् दृष्टिगोचर हुयी. इसमें दशमस्कन्धके फलप्रकरणगत '**स्वैरुत्तरीयै:**'कारिकाकी सुबोधिनीपर एक स्वतन्त्र लेख भी गोपालमन्त्रव्याख्याके साथ जुड़ा हुवा मिला. उसे पृथक् करनेका कोई हेतु उचित नहीं लगा. अत: उसे भी इदम्प्रथमतया प्रकाशित कर रहे हैं.

१४.गोपालमन्त्रकी एक अपरटीका महाप्रभुसे तेरहवीं पीढ़ीपर श्रीमुरलीधरात्मज और श्रीव्रजरत्नजी (जन्म वि.सं.१८९१) के दत्तक

पुत्र गोस्वामिश्रीअनिरुद्धाचार्य (वल्ल.वं.वृ.द्वितीय/२ नडियाद जन्म वि.सं.१९४६) द्वारा विरचित है. यह इनके गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्भाष्यके अन्तर्गत लिखी है. जो यहां उद्धृत की जा रही है. इसे वि.सं.१९८४ में श्रीहरिशंकर ॐकारनाथ शास्त्रीजी सम्पादित कर मुंबईके गुजराती मुद्रणालयद्वारा प्रकाशित करवायी थी. इनकी अथर्वनारायणोपनिषद्पर भी व्याख्या प्रकाशित हुयी है. ये श्रीमगनलाल शास्त्री, जो तेलीवाला आदिके भी गुरु थे, उनके शिष्य थे.

यह बहोत सौभाग्यकी बात है कि भगवत्कृपावश वाल्लभ वंशमें प्रचलित विविध व्याख्योपेत चतुर्विध दीक्षाओंका एककायतया प्रकाशन होने जा रहा है. इससे चारों ही दीक्षामन्त्रोंकी साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके अनुसार एकार्थप्रतिपादकता या एकवाक्यता का अवबोध सुकर हो पायेगा.

पुष्टिमार्गीय पिछवाई और चित्रकला के अनन्यप्रेमी संग्राहक-विवेचक तज्ज्ञ श्रीअमित अंबालालने अतीव उदारभावसे नाथद्वारामें सूर्यग्रहणकालमें श्रीनाथजीके समक्ष श्रीगिरिधार्यात्मज श्रीगोवर्धनलालजी (जन्म : वि.सं.१९१९) की उपस्थितिमें दादाजी श्रीकल्याणरायजी तीन गिरधरलालजी बालकृष्णजी और मधुसूदनलालजी गोस्वामी बालकोंको गोपालमन्त्रकी दीक्षा (वि.सं.१९३९ में) देते हुवेका श्रीघासीरामजी द्वारा निर्मित एक चित्र तथा गोकुलमें यमुनातटपर महाप्रभुको ब्रह्मसम्बन्धकी आज्ञा प्रदान करनेवाला चित्र आवरक पृष्ठके लिये दिया तदर्थ हम अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं.

इसमें श्रीधर्मेन्द्रसिंह झाला-श्रीमती पद्मिनी झाला, श्रीअनिल भाटिया, श्रीपरेश शाह-श्रीमती मनीषा प.शाह, श्रीजगदीश शेठ आदि

सभीका तथा मुद्रणोचित उत्तरदायित्वमें श्रीप्रवीण डढाणिया श्रीपीयूष गोंधिया का सहयोग निरतिशय अभिनन्दनीय रहा है. महाप्रभु इसी तरह वाल्लभ वाङ्मयकी सेवाके लिये इन सभीके भीतर सामर्थ्य और उत्साह निभाता रहे!

श्रीमदाचार्यचरणाः प्रभुचरणौ तदात्मजौ।
कृपयन्तु सदा येन नैश्चिन्त्यं मयि सर्वथा॥

गोस्वामी श्याम मनोहर.
(दि.१५/११/२०२२)

८०३, एक्मे रीजेंसी,
स्वामी विवेकानन्द रोड़,
पार्ला पश्चिम,
मुंबई : ४०००५६.



विषयानुक्रमणिका



गद्यार्थः वाचकपदोत्या सदानन्दे तदस्तीति ज्ञायते । तत्तु कोटिकन्दर्पलावण्यमेव । अतएव तद्दर्शनानन्तरं जेवश्रुतौ कामबा-
३ णाभावोत्पत्तिः । बहु द्रामने । कोटिकंदर्पलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः ॥ कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्य
संशय मिति । तद्दिरो समर्पणानन्तरं समान उत्पद्येते वेत्यविवादम् । तदनन्तरमेव शुद्धि पुष्टि मार्गी
यत्व मितिसारम् ॥ इति श्री अन्योन्यस्य प्रेमैवासौ ॥ यद्वा ॥ पूर्ववरदानसमये वस्त्रे व्यपहृतेषु सर्वथा
तदभावे रसाभासो न जातस्यस्य केवलमुत्तरीयाभावे कथमधुना सम्भवेदिति भक्तं स इत्युक्तवान् ।
ननु तदानीमपि कथं न रसाभास इत्यत आह । ईश्वर इति । कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वाद्यदि सम्भवेत्तदा तथा
न कुर्यादेव । अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेनापि तदुत्तमासनं त्यक्तुमशक्यमेव । अन्यथा
कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि समुत्पादयितुं शक्तः । अतस्तादृशेन किञ्चिदनुपपत्तमि
ति भावः । वाजसनेयिशाखायां अन्तर्यामि ब्राह्मणे यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य प्राणः शरीरं य
स्य त्वक् शरीरं यस्य वाक् शरीरं यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्रं शरीरं यस्य मनः शरीरं यस्य त्वक् ३
मित्यादि रन्ते यस्यात्मा शरीर मित्युक्तेः । श्रुति वाक्यतो मुख्यः कान्तः इति । कामस्तु स्वरूपानन्दानु

भवार्थं मेवैतासु भगवतेव सम्पादितो न तासां तन्मुख्यत्वम् । यासां तु समुख्यस्तासामेतद्धी
ला प्राप्तिर्न जातेति ज्ञापयितु मन्तर्गृहगता कथेतिभावः । जीवनवैपरीत्यं पश्चात्तत्तं न मुख्यम् ।
इतिश्री विठ्ठलनाथ तनुज काकावल्लभ विरचितो मूलमंत्रार्थ विचारः समाप्ति मगमत् ।
सम्वत् १९७३ वैशाख कृष्ण शुक्ला ८ बुधवार । पं. गणेशदत्तेन लिखितम् ॥ श्लो. ८०

श्रीविठ्ठलनाथतनुजकाकावल्लभजीविरचितमूलमन्त्रार्थः

रितिबोद्धव्यम्। ननु साक्षाद्रसरीत्या भगवदनुभवेऽपि सर्वात्मभावेन दास्येऽधिकत्वं कथमुपपद्यते श्रीहरिराय
इतिचेत् तत्रायंभावः। भगवान् स्वामिनीसहित एव पूर्णरसात्मकः तस्यालम्बन विभावद्वय संयोग-
निष्पन्नत्वात् तथा च दास्ये उभयसहिते सेवया पूर्णरसानुभवो भवतीति नानुपपत्तिः काचित्॥ अ
ष्टाक्षरो मंत्रस्तस्याष्टोत्तरशतं जपः १०८ ततः पंचाक्षरो मंत्रस्तस्य चतुर्विंशोत्तर त्रिशतं जपः ३२४
ततो नवरसमय भावनाध्यानं कार्यम् ॥ इतिश्रीहरिरायेण महद्विलोकन परेण समर्पणमंत्रविवरणम्।
५५ ॥श्रीकृष्णायनमः॥ अथमूलमंत्रार्थो लिख्यते। क्लीमितिकामबीजं तेनादौ तत्कथने पुष्टिमार्गीय सम
र्पणे स एव बीजमिति सूचितम्। यस्माऽलौकिकः स भगवद्भावरूपो न तु लौकिकः। तस्य भग
वत्सम्बन्ध प्रतिबन्धकत्वाद लौकिक तदुत्पत्तौ भगवदनुग्रह एव कारणं सेव पुष्टिः॥ स्वभावउत्तर
दलरूप भगवत्स्वरूपात्मक इति ज्ञापनाय श्रीवियुक्त सदानन्दपद मनु पदमुक्तम्। तादृशाकृतेन
समर्पणेन बह्वाविन सर्वदोष निवृत्ति रित्यपि सूचितम्॥ साधन बलेन कदापि नैवं भवतीति प्रमेय २
वलसूचक परमैश्वर्यवाचक पदमुक्तम्। यथान्यभजनं क्रियमाणा भक्तान् स्वतस्तन्निवार्या-

बंधोऽ...रेणतस्यापिस्यात्तथास्यात्॥ अपि... तदुक्तं...रितु
स्यादेवेतिकैमुतिकन्यायः ...प्रदर्शितः॥ तदेतदुक्तं निबंधे अथ तस्तु
परिज्ञातो ज्ञातोभक्तिं प्रयच्छतीति॥ अनेन तदुक्तंत्वसापोपापोपि
प्रदर्शितः॥ एतेन भक्तेरेवबाजभावः सर्वभगवत्...नाशाय॥४॥
...नकत्वेन समर्पणस्य भजनाधिकाररूपत्वमिति सर्वमनवद्यं॥
आचार्यचरणांभोजसमर्पितपरेहकः॥ तत्समर्पणगद्यार्थं दुह्ये
...मंवल्लभोक्षवीत्॥ इति श्रीविठ्ठलरायतनुजश्रीवल्लभविरचितः
समर्पणगद्यार्थः समाप्तः॥ संवत् १७६६ भाद्रपद सुदि १ व्रजाभरणेन ...
लिखितं...

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ नाममन्त्रविवृतिः ॥

श्रीकृष्णः शरणं मम इति अष्टाक्षरो मन्त्रो अस्य व्याख्या : **श्रीकृष्णो** युगलस्वरूपो मम **शरणम्** आश्रयो भूयात्.

सर्वाश्रयेषु देहदारागारपुत्रमातृपितृभगिनीकुटुम्बगृहवित्तपशुग्रामदेशेषु शिथिलेषु मृगतृष्णावद् दृश्यमानेषु तदाश्रयः आनन्दरूपो नित्यः परमात्मप्रदो मम भवतु.

सत्संगत्या नवधया भक्त्या च अनन्यरूपया॥
निरस्तोऽन्याश्रयस्तीव्रः तदाश्रयो भवेद् ध्रुवम्॥१॥

इति नाममन्त्रविवृतिः

॥ निवेदनमन्त्रविवृतिः ॥

सहस्राणि अपरिमितानि ये **परिवत्सराः** तैः **मितः कालः** तेन **जातः कृष्णवियोगः** तेन जाताभ्यां **तापक्लेशाभ्यां आनन्दतिरोभावः** आनन्दरहितो अहं जातः. आनन्दार्थं **देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मान्** **च**इति. **देहः** पाञ्चभौतिकः **इन्द्रियाणि** दश. **प्राणाः** दश. **अन्तःकरणानि** मनोबुद्धिचित्ताहंकाराः तेषां धर्मान् देहस्य चलनम्, इन्द्रियाणां या-या प्रवृत्तिः, प्राणानां या या प्रवृत्तिः, अन्तःकरणानां या-या प्रवृत्तिः ते धर्माः तान् तद् उक्तं "**ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः**" (सिद्धा.रह.२) इति. **भगवते** षड्गुणसम्पन्नाय **कृष्णाय** सर्वान्तःकरणहरणाय **दारागारपुत्राप्तवित्तेहा**

पराणि. दारा भार्या, आगारं गृहम्, आप्तं कुटुम्बं, वित्तं तेषाम् ईहा चेष्टा **पराणि** च **आत्मना** जीवेन सह **समर्पयामि**. समर्पिते सति **दासो अहं ''कृष्ण तवास्मि''** इति पञ्चाक्षरो मन्त्रः. हे कृष्ण! तव दासो अहम्. **''अभयं सर्वदा दास्ये इति जन्मव्रतं मम''** (द्रष्ट : रामा.६।१८।३) तन्मयि कुरु.

इति निवेदनमन्त्रविवृतिः

।। स्वमार्गीयशरणद्वयनिर्णयः ।।

यथा हि शरणं यातैः विधेया भावना हृदि।।
स्वाचार्यकरुणामात्रबलात् सात्र निरूप्यते।।१।।
शरणं द्विविधं प्रोक्तं सिद्धसाधनभेदतः।।
त्यागात्यागविभेदेन प्रथमे त्याग इष्यते।।२।।
'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'त्यत्र त्यागनिरूपणात्।।
'न्यासादेशे'ति पद्येन तत्तात्पर्यं निरूपितम्।।३।।
सएवात्र च संन्यासः सर्वत्यागात्मको मतः।।
सर्वोत्तमे प्रभोर्नाम तादृगेव विराजते।।४।।
'विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः'।।
यत्र ज्ञानगुणादीनां स्वास्थ्यहेतोरपि स्वतः।।५।।
त्यागः शरीररक्षापि न कार्या भोजनादिभिः।।
लौकिकाः वैदिकाः वापि धर्माः भागवताअपि।।६।।
त्यज्यन्ते यत्र न फलम् अन्यत् तदनुभूतितः।।
अतो दुर्लभता प्रोक्ता 'प्रेम्णा सिद्ध्यति नान्यथा'।।७।।
'पृथक्शरणमार्गोपदेष्टृ'त्वम् इदमेव हि।।
बुद्धिपूर्वकतत्त्यागो विरहानुभवार्थता।।८।।
अग्रेतु तस्याप्यस्फूर्तिः स्वास्फूर्तिविरहेण च।।
एवंहि सिद्धशरणं त्यागेन विनिरूपितम्।।९।।

अत्यागेन च सम्प्रोक्तं साध्यभक्तिप्रसिद्धये॥
कलौ भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यत्वादपि स्वतः॥१०॥
स्वसाधनैर्न संसिद्धिः शरणाद् अखिलं भवेत्॥
'विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्ये'ति रूपणात्॥११॥
निजांगरहितं चापि शरणं भक्तिसाधनम्॥
नवरत्नेऽपि च प्रोक्तं 'तस्मात् सर्वात्मने'ति हि॥१२॥
'प्रत्येकं साधनं चे'ति बालबोधे निरूपितम्॥
तस्मादिदानीं तद्भक्तिर्न सिद्ध्येत् तत्र साधनैः॥१३॥
इति निःसाधनाधीशः स्वास्यमाविश्चकार ह॥
तेन चोक्तः कृपादृष्ट्या द्विविधोऽपि तदाश्रयः॥१४॥
फलात्मा साधनात्मा च स्वतन्त्रो भक्तिसाधनः॥
तत्रापरो विवेकादिसहितः साधयेद् रतिम्॥१५॥
प्रथमे भावना कार्या शरणे स्वात्मरूपिणः॥
यतोहि भगवान् कृष्णो विरहात्मा च साकृतिः॥१६॥
देहेन्द्रियान्तःकरणादिषु तिष्ठति रक्षकः॥
ततश्च भावयेत् कृष्णं देहजीवेन्द्रियात्मकम्॥१७॥
अतएव वियोगस्यानुभूतौ जीवनं कथं भवेत्॥
अयमेव च संन्यासः स्वतन्त्रः शरणं तथा॥१८॥
सर्वत्यागेन सततं वियोगानुभवात्मकः॥
द्वितीये शरणे तु स्याद् एतद्देहादिकं मम॥१९॥
तदेकशरणं, तेषां रक्षकश्च प्रवर्तकः॥
निवर्तकश्च भगवान् निष्प्रयत्नः ततो भवेत्॥२०॥
इति विज्ञाय शरणद्वयं जीवः सदाश्रितः॥
निःसाधनो निजाचार्यान् आश्रितः सिद्धिम् आप्नुयात्॥२१॥

इति श्रीहरिदासोदितः स्वमार्गशरणद्वयनिर्णयः

॥ अष्टाक्षरशरणमन्त्रपूर्वपक्षनिरासः ॥

अष्टाक्षरमहामन्त्रः शरणैकप्रकाशकः ॥
तन्त्रसिद्धः कथं पुष्टिमार्गे साधनम् इष्यते ॥१॥
विभूतिवाचिनः तस्माद् न सिद्धिः पौरुषोत्तमी ॥
भक्तिहंसी प्रपद्येत विरोधः स्पष्टएव हि ॥२॥
उपासनाद्यगम्यत्वं तत्रोक्तं पुरुषोत्तमे ॥
निःसाधनत्वभंगः स्याद् भक्तिमार्गस्य सर्वथा ॥३॥
अनुग्रहैकसाध्यत्वम् अपेयाद् भगवद्रतेः ॥
एवं कृते पूर्वपक्षे सिद्धान्तः तत्र चोच्यते ॥४॥
पुष्टिमार्गप्रभोर् आस्याद् अयं हि पुनरुद्गतः ॥
मन्त्रोऽनुग्रहमूलत्वाद् वरणात्मा ततो मतः ॥५॥
तस्य साधनतायाः हि नापेयाद् हेतुता वृतेः ॥
विभूतिमात्रवाच्यत्वं चातएव न युज्यते ॥६॥
अतएवात्र न प्रोक्ता तस्य काचिद् उपासना ॥
यथाहि श्रवणादीनां भिन्नत्वं मार्गभेदतः ॥७॥
तथैव वक्तृभेदेन मन्त्रभेदो निरूपितः ॥
स्तोत्रे कृष्णाश्रये चोक्तम् इति "श्रीवल्लभोऽब्रवीत्" ॥८॥
यथा शुकमुखं प्राप्य पीयूषद्रवतोच्यते ॥
श्रीभागवतशास्त्रस्य तथात्रापि विबुध्यताम् ॥९॥
श्रीमत्प्रभुभिरप्युक्तम् अतएव दयालुभिः ॥
"यद् उक्तं तातचरणैः" इत्यादिवचनामृतम् ॥१०॥

इति श्रीहरिदासविरचितो
अष्टाक्षरशरणमन्त्रपूर्वपक्षनिरासः
समाप्तः

॥ निवेदनतात्पर्यार्थः ॥

अथ निवेदनवाक्यार्थस्तु सृष्ट्यादावेव जीवाः स्वतो भगवता सृष्ट्यर्थं भिन्नाः कृताः. तेषां ततः प्रभृति भगवता सह भगवदंशानां विप्रयोगो अस्त्येव, न परं तापक्लेशः सम्बन्धाभावात्. सम्बन्धस्तु प्रपञ्चासक्तिनिवृत्त्या भवति. सातु यावद् देहसम्बन्धम् अहंताममतयोः अविद्याकार्ययोः सत्त्वाद् न भवितुं शक्नोति. अतोहि अत्र अहंताममतयोः बाधकत्वं भविष्यतीति पुनः सम्बन्धसिद्धिः, तया पुनः देहादेः पाकेन मृदादेः कार्यक्षमत्वमिव भगवत्कार्योपयोगित्वं भवति इति अलम् उक्त्या.[१]

इति श्रीहरिदासोदितो
निवेदनतात्पर्यार्थः

॥ ब्रह्मसम्बन्धवाक्यकठिनांशविवेचनम् ॥

अथ स्ववल्लभाचार्यचरणाम्बुजचिन्तनात् ॥
किञ्चिद् निरूप्यते स्वीयतुष्टये भावपुष्टये ॥१॥
अनुग्रहः पुष्टिमार्गः स्वीकृतिः सा हरेः पुनः ॥
सर्वेश्वरस्वीकृतौ हि दैन्यमेवास्ति कारणम् ॥२॥
सर्वथा साधनाभावे दैन्यभावो भवेदिति ॥
निःसाधनत्वसिद्ध्यर्थं सर्ववस्तुसमर्पणम् ॥३॥
सर्वत्र ममताभावे साधनस्फूर्तिनाशनम् ॥

१.अक्षरांशदैवाः द्विविधाः : केवलमर्यादायां स्थिताः साधनपराः तेषां मुक्तिरेव फलं; ये च मर्यादापुष्टौ अंगीकृताः तेषां सर्वसाधनत्यागपूर्वकशरणागतौ क्रियमाणसेवनायां सेवाफलोक्तफलसिद्धिः. अन्येषां च असुराणां प्रकृतिजन्यानां संसारनिश्चयेन अन्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः, नहि तेषां भगवत्प्राप्तिसम्बन्धगन्धोऽपि **"माम् अप्राप्यैव कौन्तेय!"** (भग.गीता १६।२०) इत्यादि वचनात्. (तत्पुस्तकस्थं टिप्पणम्)

ततो दैन्यैकसाध्यं यत् फलं सर्वविलक्षणम् ॥४॥
'तापक्लेशानन्द' इति तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥
कामसर्वात्मभावौ हि भगवत्प्राप्तिसाधनम् ॥५॥
कामः सापेक्षतारूपः उत्तरस्तदभाववान् ॥
विरहस्थायिभावत्वात् तापात्मा स निगद्यते ॥६॥
सम्बन्धस्यापि नापेक्षा तापेनैवाखिलोदयः ॥
विलक्षणः तत्क्लेशोऽपि कामजातात् तथापरः ॥७॥
कामजातस्तु यः क्लेशः स शाम्येत् स्पर्शनादिभिः ॥
सर्वात्मभावसम्भूतः तैर्भवेद् द्विगुणस्तथा ॥८॥
विरहे भावनास्पर्शः क्लेशवृद्धिकरो यतः ॥
लीलोदये तापभावाद् द्विगुणः सोऽनुभूयते ॥९॥
अतो विलक्षणः क्लेशाद् आनन्दोऽपि तथाविधः ॥
कामार्तितः परं कृष्णसायुज्यं नित्ययोगयुक् ॥१०॥
पुरुषोत्तमसम्बन्धो हि अन्तर्गृहगतास्विव ॥
सर्वात्मभावक्लेशेन संयोगे न कृतार्थता ॥११॥
क्लेशएव हि संयोगाधिकानन्दानुभूतितः ॥
यथा प्राकृतदेहेषु नियता कामसंस्थितिः ॥१२॥
तथाऽलौकिकदेहेषु सर्वभावप्रतिष्ठितिः ॥
अतएव निरूप्यन्ते निष्कामास्ते व्रजस्थिताः ॥१३॥
तादृशैः भगवल्लीला सर्वथैव हि युज्यते ॥
तस्मादेव हि सम्पन्नः सर्वोप्यर्थो विचारणे ॥१४॥
कामाद् विलक्षणः सर्वभावः तत्क्लेशभेदतः ॥
संयोगविप्रयोगाभ्यां तदानन्दोऽपि भिद्यते ॥१५॥
एतदेवोक्तम् आचार्यैः फलं सर्वं समर्पणे ॥
'तापक्लेशानन्द' रूपं तदर्थोऽयं विवेचितः ॥१६॥
तद्दासदासदासोक्त्या तदीया गतसंशयाः ॥

ब्रह्मसम्बन्धवाक्यार्थविदः तिष्ठन्तु वर्त्मनि॥१७॥

इति ब्रह्मसम्बन्धवाक्यकठिनांशविवेचनं
श्रीहरिदासविरचितं
समाप्तम्

॥ स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम् ॥

अथ स्वकीयबोधाय सूक्ष्मरीत्या विचार्य च॥
स्वमार्गीयप्रकारोऽयं सर्वोऽपि विनिरूप्यते॥१॥
गृहीत्वा नाम शरणं गत्वा सर्वं समर्प्य च॥
सेवासार्थकतासिद्ध्यै देहादीनां तथा पुनः॥२॥
अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा॥
तयातु मानसी सिद्ध्येत् सैवात्र फलरूपिणी॥३॥
सा प्रकारत्रयेणेति तेषां तन्मध्यपाततः॥
फलत्वमिति ते प्रोक्ताः 'सेवायान्तु फलत्रयम्'॥४॥
सेवातु सा समानत्वात् सैवान्ते न विलक्षणा॥
फलतातः प्रकाराणां पश्चाद्भावितयोच्यते॥५॥
यादृशं वरणं तादृक्प्रकारापन्नसेवना॥
मानसी फलरूपेति तारतम्येन चोच्यते॥६॥
ते प्रकारास्तु विज्ञेयाः ग्रन्थात् सेवाफलाभिधात्॥
अलौकिकं हि सामर्थ्यं सायुज्यं पुरुषोत्तमे॥७॥
वैकुण्ठादिषु सेवायाः शरीरम् अधिकारकृत्॥
एतावानेव मार्गेऽस्मिन् सूक्ष्मः सिद्धान्तसंग्रहः॥८॥
तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्याद् इति चोच्यते॥
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणंगतः॥९॥
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्॥

लौकिकं वैदिकं वापि विदध्याद् भक्तिसिद्धये॥१०॥
नान्यमार्गाश्रयो नैव देशान्तरसमाश्रयः॥
नैव तीर्थाश्रयो नैवाभिमतेः कर्तृताश्रयः॥११॥
नैव मन्त्रसमाधारो नच कर्मादिकाश्रयः॥
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं धर्मत्वेन हरौ दृशिः॥१२॥
विवेकादेरभावेन दैन्येनार्थत्वभावनम्॥
स्वकामपूरणार्थाय पूर्णानन्दत्ववेदनम्॥१३॥
न साधनैः भवेद् मोक्षो हरिरेव तदात्मकः॥
तदीयतायाः सम्पत्तौ मुक्तत्वेनैव चिन्तनम्॥१४॥
अतएव निराकांक्षाः मोक्षतः कृष्णसेवकाः॥
देशादिसाधनं कृष्णः पुरुषार्थः चतुर्विधः॥१५॥
एवं मनसि सततं चिन्तनीयं प्रयत्नतः॥
प्रायश्चित्तादिषु मतिः न कार्या शरणं व्रजेत्॥१६॥
उपस्थितेषु दोषेषु सर्वेष्वथ विशेषतः॥
सुशक्येष्वप्यशक्येषु हरेर्गतिमथ स्मरेत्॥१७॥
अन्याश्रयो नैव कार्यो नैवान्यत्र स्वतो व्रजेत्॥
प्रार्थना नैव कुत्रापि कर्तव्या भगवत्यपि॥१८॥
अविश्वासो न कर्तव्यो ब्रह्मास्त्रस्य निदर्शनात्॥
लौकिके वैदिके वापि कार्ये संगं विवर्जयेत्॥१९॥
यथाकथञ्चित् कर्तव्ये भारवत् तत्र भावनम्॥
सर्वत्र ममतां त्यक्त्वा सर्वं कार्यं प्रसाधयेत्॥२०॥
लोभञ्च हृदये नैव कुर्यात् प्राप्तं हि सेवयेत्॥
शरणस्यापि ये धर्माः तत्सिद्धौ शरणं व्रजेत्॥२१॥
विवेकधैर्येऽपि सदा श्रीकृष्णाश्रयपोषके॥
तद्ग्रन्थेभ्योऽवगत्यापि प्रयत्नाद् हृदि भावयेत्॥२२॥
एवम् आश्रितधर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः॥

आश्रित्य वल्लभाचार्यान् बुद्ध्वैवं कृष्णम् आश्रयेत्॥२३॥
अत: परं क्रमेणैव जीव: कृतसमर्पण:॥
तत्साधनाय सततं किं कुर्याद् इति चोच्यते॥२४॥
सेवासंस्काररूपत्वाद् विदध्यात् सेवनां सदा॥
ब्रह्मसम्बिन्धिता जीवदेहसम्बन्धिवस्तुषु॥२५॥
सर्वदोषविमुक्तत्वं स्वस्मिन्नपि विभावयेत्॥
सर्वथा सर्वदैवात्र नचाद्याद् असमर्पितम्॥२६॥
तद्भक्षणे भवेदेवाब्रह्मसमन्धिवस्तुता॥
सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्धभावनानाशएव हि॥२७॥
लौकिकं वैदिकं वापि कुर्यात् सर्वं समर्पितम्॥
अत: सर्वेषु कार्येषु कुर्याद् आदौ समर्पणम्॥२८॥
यथा समर्पणे योग्यं यत् तथा तत् समर्पयेत्॥
यज्ञादिषु विवाहादौ प्रदर्श्य निखिलं हरे:॥२९॥
गृहीत्वैव तदादेशं पश्चात् कार्याणि साधयेत्॥
न स्वार्धभुक्तं कृष्णाय समर्प्यम् इति निश्चय:॥३०॥
न सामिभोग: सम्प्राप्तो ह्यसमर्पितवर्जनात्॥
तथापि मानसं पूर्वम् आदाय च समर्पणम्॥३१॥
अभुक्तमप्यतो ब्रह्मसम्बन्धो विभ्रमात् पुरा॥
गृहणीयाद् अवशिष्टं तु प्रभवेऽपि समर्पयेत्॥३२॥
तदर्थं वर्जितं भेदेनार्धभुक्तसमर्पणम्॥
असमर्पितवस्तूनाम् अत्र सामान्यम् उच्यते॥३३॥
'भुक्ते'त्यनेनात्र भोग्यवस्तुभोगो निरूप्यते॥
सचोपयोगरूपो हि तस्माद् भेदो विबुध्यताम्॥३४॥
निवेदितपदार्थानां ग्रहणं मार्गभेदत:॥
पूजामार्गनिषेधानाम् अत्रानवसरो मत:॥३५॥
एवं जन्मावधि नृणां भावनातो भविष्यति॥

सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्धो गंगातोऽन्यजलेष्विव॥३६॥
चिन्ता निवेदिभिः नैव नवरत्ने निरूपिता॥
ततएवावगत्येह कार्या इति विनिश्चयः॥३७॥
ततोहि जातसंस्कारः सर्वचिन्ताविवर्जितः॥
साक्षिवत् तत्कृतिं पश्यन् सुखं सेवापरो भवेत्॥३८॥
....................................॥.

इति श्रीहरिरायोदिते स्वमार्गीयशरणसमर्पण-
सेवादिनिरूपणान्तर्गते शरणसमर्पणे

॥ जपसमये स्वरूपध्यानम्॥

भक्तिमार्गे तापयुक्तक्लेशैः भगवदर्थकैः॥
सर्वात्मभावसिद्ध्यर्थं जनः पञ्चाक्षरं जपेत्॥१॥
पञ्चाक्षरे 'तवास्मी'ति स वै भावः प्रकाशितः॥
सर्वात्मभावसंसिद्धो न तत्साधनम् उच्यते॥२॥
किन्तु तज्जपतो दैन्यं तदीयत्वविभावनात्॥
तदेवानुग्रहद्वारा सर्वभावप्रसाधकम्॥३॥
अष्टाक्षरं तथा मन्त्रं जप्यं शरणसिद्धये॥
शरणस्थं यतः कृष्णः स्वतः सर्वात्मनोद्धरेत्॥४॥
उद्धारोऽप्यत्र मन्तव्यः स्वरूपावेशसाधकः॥
फलान्तरानपेक्षस्य किं देयं प्रभुणापि हि॥५॥
तत्र स्वस्वामिरूपस्य भावनारीतिरुच्यते॥
यतो भावनया भावः सिद्ध्येद् नान्येन केनचिद्॥६॥
सर्वलीलाफलं रासलीलाम् आदौ विभावयेत्॥
तस्यामेव हि लीलायां सर्वभावात्मिका यतः॥७॥

'रासलीलैकतात्पर्य' इत्यत: स्वामिनाम हि॥
फलप्रकरणत्वं च तल्लीलाविनिरूपणात्॥८॥
तत्र स्थलं गूढतमं यमुनापुलिनात्मकम्॥
तच्चातिदुर्गवत् सर्वागम्यं हृदि विभावयेत्॥९॥
परितो यमुनातीरे ततो वृन्दावनं तथा॥
ततो भूमि: सापि गूढा वायुना पत्रचालनात्॥१०॥
अलौकिकमनश्चन्द्रप्रकाशधवलीकृता॥
यमुनोर्मिभिर् अत्यन्तशीतलं सरसं तथा॥११॥
एतादृशे तु पुलिने त्रिभंगललितं हरिम्॥
बर्हिपिच्छशिरोभूषं सरोजसदृशाननम्॥१२॥
चञ्चलारक्तनयनम् अलकावृतभालकम्॥
श्रुतियुग्मलसच्छ्रीमन्मकराकृतकुण्डलम्॥१३॥
दिव्यांगरागललितं सर्वाभरणभूषितम्॥
पीताम्बरावृतं श्रीमद्वनमालाविराजितम्॥१४॥
रसासक्तं गोपिकैकानुरक्तं गोपिकावृतम्॥
रासमण्डलमध्यस्थं गोपिकायुग्ममध्यगम्॥१५॥
श्रुतिरूपाग्निपुत्रात्मरूपगोपीभुजावृतम्॥
नृत्यन्तं शास्त्ररीत्यापि रसोद्रेकेण च स्वत:॥१६॥
तृतीयपुरुषार्थीयरसक्रीडापरं क्वचित्॥
जलक्रीडारतं क्वापि मदविह्वललोचनम्॥१७॥
गोपिकासु च संसक्तं विरक्तं सर्वकार्यत:॥
एतादृशं प्रभुं श्रीमदाचार्यहृदयस्थितम्॥१८॥
भावात्मकेनरूपेण सामग्रीसहितं तथा॥
रसात्मकस्याधिष्ठानं रसवद्धृदये यत:॥१९॥
तथैव हृदयाविष्टं लीलायां प्रतिगोपिकम्॥
हृदयादेव तत्तापवशात्तु बहिरुद्गति:॥२०॥

लोकवेदप्रसिद्धस्वम् अधिष्ठाय क्रियाकृतिः॥
अवतारपरोक्षे तु मूर्तावेवेति निश्चयः॥२१॥
अनुभूतिर् भाववतां भावरूपेण सर्वथा॥
अन्येषाम् अन्यरूपेण ततः साधारणी मतिः॥२२॥
स्वरूपे च तथा मूर्तौ नहि भाववतां क्वचित्॥
एवम्भूतं हरिं ध्यायेद् अतिदीनेन चेतसा॥२३॥
ततः सेत्स्यति सर्वात्मभावो भवति न स्वतः॥
पुष्टिमार्गे साधनं च फलं चापि मतो हि सः॥२४॥
एतत् सर्वं निजाचार्यकरुणालम्बितात्मनाम्॥
भवेद् अतः तदीयानां विधेयः केवलाश्रयः॥२५॥

इति श्रीहरिरायकृतं जपसमये स्वरूपध्यानम्

॥ पुष्टिमार्गीयध्यानप्रकारविवेचनम्॥

अथ जपसमये पुष्टिमार्गीयध्यानप्रकारो विविच्यते : प्रथमम् आचार्यवर्यान् श्रीवल्लभान् विप्रयोगरसात्मकतापरूपान् ध्यात्वा नमस्कुर्यात्. ततः श्रीमत्प्रभुचरणान् शुद्धपुष्टिमार्गीयसर्वात्मभावात्मकस्त्रीभावरूपान् श्रीविठ्ठलान् ध्यात्वा नमस्कुर्यात्. ततो मन्त्रोपदेष्टारम् अर्थतः शब्दतः च यथादृष्टम् अनुस्मृत्य नमस्कुर्यात्. ततो मन्त्रम् अष्टाक्षरं सार्थकं विचार्य अष्टोत्तरशतं जपेत्.

श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दो गूढो ब्रह्म परात्परः॥
गूढः स्त्रीभावभावात्मा स्वामिनीहृदयस्थितः॥१॥
स्थायिभावात्मकः सर्वलीलारूपफलात्मकः॥
रासलीलापरो नित्यो भावभावात्मकः परः॥२॥

स्वामिनीवृन्दमध्यस्थः तदेकरसमग्नकः ॥
जीववत् तदधीनश्च लभ्यः सर्वात्मभावकैः ॥३॥
लोकवेदप्रसिद्धश्च 'पुरुषोत्तम'नामकः ॥
संयोगे राधिकायुक्तः संयोगात्मा तदात्मकः ॥४॥
एकरूपः सर्वहृदि प्रविष्टः शरणं मम ॥
निस्साधनः तन्मनसा तदेकाश्रयभावनम् ॥५॥

'तद् मम अस्तु' इति सम्प्रार्थ्यम्

इति विप्रयोगध्यानम्

अथ पञ्चाक्षरे यादृशे प्रभौ शृंगारसंयोगात्मके सर्वात्मभावेन दास्यं तदुपयोगी तथा देहादौ निरन्तरभावनां प्रार्थयेत्. तत्र प्रथमं 'श्रीकृष्ण'पदप्रयोगस्य प्राकट्यसामयिकशोभाभिव्यञ्जकत्वाद् भावनापुरः-स्थितं युगलस्वरूपम् अष्टषोडशचतुर्विंशतिसखीमण्डलमध्ये नवरसमयं चतुर्विंशरमणात्मकं श्रीकृष्णं विधाय भावनया देहेन्द्रियादिकमपि अन्तःप्रवेश्य तत्रैव सर्वदा निरुद्धीभूय दास्यं प्रार्थनीयम् इति बोधाय.

तथाच सिद्धम् एतत् श्रीमदाचार्याणां हृदयं विप्रयोगात्मकं स्थायिभावयुतं सर्वलीलात्मकं 'श्रीकृष्ण'पदार्थं युगलस्वरूपं विभाव्य तस्य मुख्यलीला रासरूपा तां विभाव्य तद्गतगोपिकायुगलान्तर्गतं तद्भुजाच्छादितं तदेकनिरुद्धं प्रभुं स्वामिनं स्वामिनीस्वरूपं च तथाविधं भावयेत्.

एवं एकवारमपि नामजपे मुख्यफलसिद्धिः. अन्यथा आवृत्तिः इति बोधव्यम्. ननु साक्षाद् रसरीत्या भगवदनुभवेऽपि सर्वात्मभावेन

दास्ये अधिकनिरूपणं कथम् उपपद्यते इति चेत् , तत्र अयं भावो : भगवान् स्वामिनीसहितएव पूर्णरसात्मकः तस्य आलम्बनविभावद्वयसंयोगनिष्पन्न-त्वात्. तथाच दास्ये उभयसहिते सेवया पूर्णरसानुभवो भवतीति न अनुपपत्तिः काचित्.

अष्टाक्षरो मन्त्रः तस्य अष्टोत्तरशतं(१०८) जपः. ततः पञ्चाक्षरो मन्त्रः तस्य चतुर्विंशोत्तरत्रिशतं(३२४) जपः. ततो नवरसमयभावनाध्यानं कार्यम्.

इति श्रीहरिरायेण महद्विलोकनपरेण
कृतं पुष्टिमार्गीयध्यानप्रकारविवेचनम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमकृतगद्यार्थतात्पर्यनिरूपणम् ॥

ननु यदि तदानीन्तनवाक्यकथनस्यैव इयं प्रतिज्ञा, तदा समर्पणगद्यम् अपि कुतो नोक्तम् इति चेद्, उच्यते. तद्धि पञ्चाक्षरमन्त्रविवरकत्वाद् अतिगोप्यम्, अतो न उक्तम्. शास्त्रे हि अतिगोप्या मन्त्रादयः उद्ध्रियन्तैव, नतु प्रकाशतया कथ्यन्ते. यथा स्पर्शेषु यत् षोडषम् एकविंशम् इत्यादि. तन्मन्त्रविवरकत्वञ्च एतस्यैव ज्ञेयम्.

तत्रहि मन्त्रस्थोत्तमपुरुषान्तक्रियापदसूचितस्य कर्तुः स्वरूपं, तस्य सपरिकरस्य भगवदीयत्वं, तस्यैव भगवद्वियुक्तत्वादिबोधनात्. मन्त्रस्थषष्ठीयुक्तभगवत्स्वामिकत्वसम्बन्धशालित्वं च विवृतं, भगवत्पदविशेषितकृष्णपदेन च निरंकुशजगदीश्वरत्वादिबोधनाद् अवतारं व्यावर्त्य मन्त्रस्थं '**कृष्ण**'पदं विवृतं, तादर्थ्यचतुर्थ्या समर्पणफलं च बोधितम् इति तथेति तदनुक्तिः.

किञ्च, समर्पणं नवविधभक्तौ आत्मनिवेदनत्वेन प्रसिद्धम् इति न तत्र कोपि सन्देहः इत्यतोपि तथा. तस्य दोषनिवर्तकत्वन्तु षष्ठस्कन्धे "**यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पुरुषनिषेवया**" (भाग.पुरा.६।१।१६) इत्यनेन भगवदीयसंगाद् उक्तम्.

किञ्च, "**दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुता अशुभाः**" (भाग.पुरा.१०।२-६।१०) इत्यत्र सर्वाशुभनिवारकत्वेन सिद्धस्य दुःसहभगवद्विरहतापस्य

तदानीम् अभावात् सेवांगीकारसम्पादिका दोषनिवृत्तिः कथं स्याद् इति शंकानिवृत्त्यर्थं हि '**ब्रह्मसम्बन्धकरण**'पदेन तत्पूर्वोक्तं सर्वम् अनूद्य ततः सर्वदोषनिवृत्तिः अत्र अभिधित्सिता. एकादशोनविंशाध्याये भगवता आत्मनिवेदनस्य भक्तिमार्गीयधर्माधिकारत्वबोधनेन एतस्यैव अर्थस्य सूचनात्. अतो यद्दुरूहं तदेव व्युत्पाद्यं, नतु निःसंदिग्धं सुबोधं वा. अतोपि तदनुक्तिः इति जानीहि.

ननु वाक्यकथनप्रतिज्ञापेक्षया तदर्थकथनप्रतिज्ञैव साधीयसी, एतदुपपादनानपेक्षत्वाद् इति चेद्, गद्यं मन्त्रविवरणरूपं, तस्य अर्थस्य सुतरां गोप्यत्वम्. अतो अर्थप्रतिज्ञायामपि सर्वेषां वाक्यानाम् अर्थे क्रियमाणेऽपि वाक्यार्थप्रतिज्ञातत्वाद् गद्यार्थः कुतो न उक्तः इति शंका उदियात्, तदा गद्यस्यापि अर्थः अवश्यं कर्तव्यत्वेन आयाति, तदा वाक्यार्थयोः प्रतिज्ञायाम् अविशेषः. तेन अर्थप्रतिज्ञापेक्षया श्रीमुखवाक्यप्रतिज्ञा गरीयसीति सैव कृता. गद्यार्थः कुतो न उक्तः इति शंकायाः तदापि उदयात्. उदितायां तस्यां तत्रापि उपपादनस्य आवश्यकत्वम् इति पक्षद्वयेपि विशेषाभावात्.

यत् पुनः प्राचीनैः अत्र किमपि न उक्तं, तत्र एतद्गोप्यत्वमेव बीजम्. मयातु यदिदम् उक्तं, तद्बहिर्मुखमुखध्वंसार्थमेवेति न तद्विरोधो दोषाय. यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराधः आयाति, तथापि प्रकाशनस्य अन्यैरेव कृतत्वेन तदर्थसन्देहवारणस्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाः च मदपराधं क्षमन्तु इति विज्ञापयामि इति दिक्.

(सिद्धान्तरहस्यविवरणान्तर्गतम्).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ गद्यार्थः ॥

॥ श्रीव्रजाभरणदीक्षितविरचितः ॥

(उपक्रमः)

ननु पुष्टिमार्गे श्रीमद्वल्लभाचार्यैः दैवजीवानाम् उद्धारार्थं मन्त्रद्वयं कथं प्रकटितम् इति चेत्,

तत्र आह : भगवदाज्ञया दैवीसृष्ट्युद्धारार्थं प्रादुर्भूय 'श्रीवल्लभा'-भिधानेन स्वस्मिन् वाक्पतित्वम् आप्तत्वं च बोधयितुं श्रुत्युनुसारेण मार्गं प्रकाशितवन्तोऽपि "**श्रावणस्य अमले पक्षे एकादश्यां महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरशः उच्यते, ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि**" (सिद्धा.रह.१) इति द्वितीयाज्ञया च. "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या रसरूपेण भगवत्प्रादुर्भावात् च. रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वात्, 'साक्षात्'पदेन युगलत्वं स्वरूपस्य बोधितम्. "**सः...पतिः पत्नी च अभवताम्**" (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुत्या च. तथा नाम्न्यपीति मन्त्रेऽपि युगलत्वम्. "**'कृषिर्' भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्णः' इति अभिधीयते**" (गो.पू.ता.उप.१।१) इति व्युत्पत्त्या च. यागेऽपि एका मुख्या दीक्षा द्वितीया अवान्तरदीक्षा. "**आत्मानमेव दीक्षया पाति, प्रजाम् अवान्तरदीक्षया**" (तैत्ति.संहि.६।२।२।७) इति. "**आराग्रामावान्तरदीक्षाम् उपेय आद्यः कामयेत अस्मिन् मे लोके अर्धुकं स्याद्**" (तैत्ति.संहि.६।२।३।५) इति. श्रीभागवतेऽपि "**कात्यायनि महाभागे महायोगीनि अधीश्वरि, नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः इति मन्त्रं जपन्त्यः ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः... भूयान् नन्दसुतः पतिः**" (भाग.पुरा.१०।१९।४-५) इति मन्त्रद्वयेन

कुमारिकाभिः फलं प्राप्तं भजनानन्दरूपम्. तथैव अत्रापि इति ज्ञेयम् **"अहं दीक्षाम् अरुहम् ऋतस्य पत्नीं गायत्र्येण छन्दसा ब्रह्मणा च ऋतम्"** (तैत्ति.संहि.७।१।१८।२) इति युगलस्वरूपम् उक्तम्.

(शरणागतिः)

पूर्वं भगवता शरणमार्गः उपदिष्टः **"तस्माद् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं, गोपाये स्वात्मयोगेन सो अयं मे व्रतः आहितः"**. (भाग.पुरा.१०।२२।१८) अधुनातु श्रीमन्महाप्रभुभिः उपदिष्टः **"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम वदद्भिरेव सततं स्थेयम् इत्येव मे मतिः"**. (नव.९) तथैव श्रीमद्गोस्वामिचरणैः निरूपितं **"यद् उक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम ततएव अस्ति नैश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके"** (विज्ञ.१।४७). एतेन पूर्वं शरणमन्त्रोपदेशः कर्तव्यः. **"ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि"** (सिद्धा.रह.१) इति निरूपितं (महा)प्रभुचरणैः, नवरत्नप्रकाशेऽपि श्रीमद्गोस्वामिचरणैः प्रतिपादितम्. यथा कन्या स्वाभिमतमेव पतित्वेन वृणुते वरो वा तादृशीं कन्यां स्वस्त्रीत्वेनेति **"'यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप.१।२।२३) इति श्रुतेः 'मे मतिः'"** (नव.प्रका.९) इति वर्णकान्तरेण विनियोगः उक्तो भवति. निवेदनेन **"साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वाद् द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजद्विजसंस्कारवद्"** (नव.प्रका.उत्थानिका १) इति उक्तवन्तः. **"महापुरुषेण निवेदिताः"** (नव.प्रका.१) इति च.

(ब्रह्मसम्बन्धः)

'ब्रह्मसम्बन्धकरणाद्' इत्यत्र **'ब्रह्म'**पदम् अविकृतत्वाय, दैवकत्वाय सच्चिदानन्दरूपत्वबोधनार्थम्. तेन सर्वाधिकारो बोधितः शरणमन्त्रोपदेशे. निवेदनेतु अधिकारी भक्तिमान् अपेक्षितः. श्रीमदाचार्यानुग्रहवान् कृष्णसम्बन्धस्तु अग्रे भावी इति सिद्धान्तरहस्यकारिकासु व्याख्याने श्रीहरिरायेचरणैः निरूपितम्. ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं **"निवेदिभिः समर्प्यैव**

सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः'' (सिद्धा.रह.५) इति निवेदनमन्त्रग्रहणानन्तरं धर्मः उक्तः. मन्त्रस्तु गद्ये उच्यते. अत्रतु अक्षरशः उच्यते अर्थः इति ज्ञेयम्. **''नाम त्रिविधसम्बन्धाद् आत्मगामि भवेद् यतः श्रवणात् कीर्तनात् स्मृत्या ततो अध्यायत्रयं मतम्''** (त.दी.नि.३।६।६) इति श्रीमदाचार्यचरणैः निरूपितं निबन्धे. तथाच श्रुतिः **''पञ्चाक्षराणि प्राचीनानि त्रीणि प्रतीचीनानि ततो वर्म यज्ञाय अभवद्''** (तैत्ति.संहि.२।६।१।५) इति अष्टाक्षरस्वरूपम् उक्तम्.

(ब्रह्मसम्बन्धायात्मनिवेदनम्)

निवेदनस्वरूपन्तु यथा **''पृथिवी दीक्षा तया अग्निः दीक्षया दीक्षितः. यया अग्निः दीक्षया दीक्षितः तया त्वा दीक्षया दीक्षयामि. अन्तरिक्षं दीक्षा तया वायुः दीक्षया दीक्षितः... द्यौः दीक्षा तया आदित्यो दीक्षया दीक्षितः. दिशो दीक्षा तया चन्द्रमा दीक्षया दीक्षितः... आपो दीक्षा तया वरुणो राजा दीक्षया दीक्षितः... ओषधयो दीक्षा तया सोमराजा दीक्षया दीक्षितः. वाक् दीक्षा तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः''** इति उक्त्वा **''सत्यम् अस्मि, अहं त्वद् अस्मि, मद् असि त्वम् एतद्, मम असि योनिः तव योनिः अस्मि... सख्यं ते गमेयं, सख्यात् ते मा योषं, सख्यात् मे मा योष्ठाः''** (तैत्ति.ब्रा.३।७।७।४-१२) इति, अणुभाष्ये श्रीमत्प्रभुचरणैः विवृतं **''पृथिवी दीक्षा''** (अणुभा.४।३।२) इत्यादि देहप्राणादीनां दीक्षा तैः सः जीवस्य इति तथैव अत्रापि ज्ञेयम्. **''सख्यपर्यन्तागतौहि पश्चाद् निवेदनवार्ता, तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि''** (नव.प्रका.९) इति नवरत्नप्रकाशे श्रीमद्गोस्वामिचरणैः उक्तम्. **''महापुरुषेण निवेदिता''** (नव.प्रका.१) इति च.

श्रीमद्वल्लभाचार्याणामेव उपदेष्टृत्वं **''भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत् पृथक्शरणमार्गोपदेष्टाः श्रीकृष्णहार्दविद्''** (सर्वो.स्तो.२४-२५) इति नामत्रयं सर्वोत्तमे. श्रीकृष्णहार्दं सर्वदा सर्वोद्धारप्रयत्नात्मकत्वं जानाति

इति. श्रुतिरपि. “**चर्षणीः अभ्यासा वाजेषु सासहत् तम् अग्ने पृतना षहं रयिं सहस्व आभर त्वं हि सत्यो अद्भुतो दाता वाजस्य गोमतः**” (ऋक्संहि.५।२३।२), “**आचर्षणि प्राविवेशयन् मा... अहं नहिं परिशयानम् अर्णः अवासृजो अपो अच्छा समुद्रम्**” (तैत्ति.ब्रा.२।६।९) इति. “**नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनं लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्**” (सुबो.१०।१।का.१) एतस्य व्याख्याने ‘शायिनम्’इति पदाद् अन्यत्र गतिराहित्यं सूचितम् इति टिप्पण्याम् उक्तम्. तस्माद् श्रीमदाचार्यकृपया श्रीमद्विठ्ठलनाथानुग्रहतः प्राप्यो भगवान् इति सिद्धान्ताद् गद्येन निवेदनम्. “**भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दृढचित्तो यथा अचलः कथा अत्र गद्यरूपेण विशिष्टत्वाद् हि वर्ण्यते**” (त.दी.नि.३।५।२४-२५) इति निबन्धे पञ्चमस्कन्धे गद्यस्वरूपम् उक्तम्.

(भगवद्वियुक्तस्य आत्मनिवेदनम्)

अथ गद्येन निवेदनं तदर्थव्याख्या : **सहस्रपरिवत्सरमित** इति. “**आयुः वै सहस्रम्, आयुरेव अवरुन्धे**”, “**संवत्सरो वा अग्निः वैश्वानरः**”, “**संवत्सरो वा इलुवर्दः. परिवत्सरो बलिवर्दः. संवत्सरादेव परिवत्सराद् आयुः अवरुन्धे**”, “**अग्निः वाव संवत्सरः. आदित्यः परिवत्सरः. वायुरेव अनुवत्सरः. चन्द्रमा इदावत्सरः**” (तैत्ति.ब्रा.३।८।१६।२, १।७।२।५, ३।८।२-०।५, १।४।१०।१) एतेन भगवतः सकाशाद् वियोगे वर्षाणाम् अनन्तत्वम् उक्तम्. “**इदुवत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन् नमः. तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् अजिता अहताः स्याम भद्रान् नः श्रेयः समनैष्ट देवाः त्वया अवसेन समशीमहि त्वा**” (तैत्ति.संहि.५।७।२।४) इति यथा अग्नेः प्रार्थना तथा अत्र भगवतः प्रार्थनं वागुच्चारणेन. यथा वाङ्मयाः यज्ञाः ब्रह्मचारिणः तथा तेन धर्मरूपत्वम् आदित्यरूपत्वं च उक्तम्. परिवत्सरस्य तापकत्वात्. तावता कालविलम्बेन संसारे महान् क्लेशो जातः **कालजातः** इति. कलयति इति कालः सर्वनियामकः.

एतादृशः परिवत्सरात्मकः कालः तेन **मितः** प्रमाणीकृतः. **कृष्णवियोगजनितः** इति तेन परिवत्सरात्मकेन जातो यः कृष्णवियोगः तेन **तापक्लेशौ** जातौ ताभ्याम् **आनन्दस्य तिरोभावः** एतादृशो जीवो **अहं** जीवो अहन्ताविशिष्टः. **भगवते** षड्गुणैश्वर्ययुक्ताय **कृष्णाय** इति फलरूपता उक्ता. "**'कृषिर्'भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्णः' इति अभिधीयते**" (गो.पू.ता.उप.१।१) "**कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्**" (कृष्णोप.१२) इति '**कृष्ण**'पदाद् रसात्मकत्वं च उक्तम्.

(आत्मनिवेदने समर्पणीयानि)

तदर्थं **देहप्राणइन्द्रियान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च** पञ्च अन्तरंगभूतान् पञ्च सम्बन्धिनो जीवस्य अन्तरंगभूताः. **दारागारपुत्राप्तवित्ताः** बहिरंगभूताः इति. "**दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्**" (भाग.पुरा.११। ३।२८), "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धव! आत्मनिवेदिनां, मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते**" (भाग.पुरा.११।१९।२४), "**दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तम् इमं परं हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा**" (त.दी.नि.२।२१९) इति "**साक्षात् श्रीगोकुलेशः भजनाधिकाररूपत्वाद्**" (नव.प्रका.उत्था.१) इति उक्तं, दारादिभिः सर्वैः सह. **इह पराणि** इति. इह अस्मिन् मार्गे, **इह** अस्मिन् लोके वा अस्मिन् भूमिलोके "**यो अस्मान् द्वेष्टि**" (तैत्ति.संहि.३।५।३।१) इति श्रुत्या च. परलोकेऽपि सुखदुःखादीनां भोगस्य आवश्यकत्वात्. "**यद् देवानां चक्षुषि यागो अस्ति यदेव किञ्च प्रतिजग्राहम् अग्निः मा तस्माद् अनृणं कृणोतु**" (तैत्ति.आर.२।६) इति अग्नेः प्रार्थनया तस्य प्रसादाद् भगवत्सम्बन्धिवियोगजतापेन अन्तर्भगवदाश्लेषेण च विलम्बाभावो भवतु इति **पराणि** इति उक्तम्. इदमेव उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः "**कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भिपाकादिनरकेषु**

यावद् दुःखं भवेत् तावद् दुःखं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम्. ततः सर्वपापफलभोगः समाप्तः. पुण्यक्षयप्रकारम् आह सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्तः'' (सुबो.१०।२६।१०) इत्यारभ्य **''कोटिब्रह्मकल्पेषु यावत् सुखम् अनुभूयते तावद् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैव अनुभूतम् अतः पुण्यक्षयो जातः''** (सुबो.१०।२६।१०) इति **''दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः''** (भाग.पुरा.१०।२६।१०) एतस्य व्याख्याने सुबोधिन्याम् उक्तम्. **आत्मना सह समर्पयामि** इति. अत्र 'आत्म'शब्दो जीववाची. पूर्वन्तु जीवत्वम् अविद्यासम्बन्धात्. अधुनातु भगवद्भावेन आत्मत्वम्. अतएव **आत्मना सह** इति आत्मनएव मुख्यत्वम् अन्येषां तत्साहित्यम्. **''आत्मानमेव दीक्षया पाति प्रजाम् अवान्तरदीक्षया''** (तैत्ति.संहि.६।२।२।७) इति उक्तम्.

(समर्पणोत्तरं स्वस्वीयानां भगवति विनियोगः)

समर्पयामि इति उक्त्या भक्तिमार्गे समर्पितानां पदार्थानाम् अंगीकारो भगवत्कर्तृकभोगे उक्तो भवति. **समर्पयामि** इति, सम्यक्प्रकारेण भक्त्या विनियोगं करोमि भक्तिमार्गप्रकारेण. अन्तःकरणप्रबोधेऽपि **''सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थो असि सुखि भव''** (अन्तः.प्रबो.८) इति. श्रीमत्प्रभुचरणैः उक्तं **''समर्पणेन आत्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्''** (बा.बो.१७) इति च बालबोधे. **दासो अहम्** इति. सहजदासत्वं जीवानाम्. तेन दासत्वेन अहंकारोऽपि त्वत्सम्बन्धादेव इति. दासत्वाद् इति हेतोः. **कृष्ण तव अस्मि** इति, फलात्मा फलदाने समर्थो अतः **त्वदीयो अहम्** इति उक्तम् 'अस्मि' इति वर्तमान प्रयोगात्. **''कृष्ण तव अस्मि इति उक्ते सर्वमेव भयं दूरीकरोति अतो अस्माकमपि''** (सुबो.१०।३१।१५) इति फलप्रकरणे सुदर्शनस्तुतौ **''तं तु...''** (भाग.पुरा.१०।३१।१५) इति श्लोकविवरणे सुबोधिन्यां श्रीमत्प्रभुचरणैः निरूपितम्. **''पुरुषोत्तमो अंगीकृतवान् न वा इति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या''** (नव.प्रका.५) इति नवरत्नप्रकाशे **''तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे''**. (नव.५)

इत्यस्य व्याख्याने **"महापुरुषेण निवेदिताः"** (नव.प्रका.१) इति **"स्वकीयत्वेन अंगीकारात् तथा न करिष्यति इति भावः"** (नव.प्रका.१) इति श्रीमद्गोस्वामिचरणैः उक्तम्. श्रुतिरपि. **"पवित्रवन्तः परिवाजम् आसते पिता एषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतं, महः समुद्रं वरुणः तिरोदधे, धीरा इच्छे कुरु धरुणेषु आरभम्. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते, प्रभुः गात्राणि पर्येषि विश्वतः, अतप्ततनूः न तदामो अश्नुते, शृतासः इद् वहन्तः तत्समा शतः, ब्रह्मा देवानाम् असतः सद् ये ततक्षुः, ऋषयः सप्तात्रिः च यत्, सर्वे अत्रयो अगस्त्यश्च, नक्षत्रैः शंक्रतो अवसन्"** (तैत्ति.आर.१।११।१-२) इति. **पवित्रवन्तः** भक्त्या कृपादृग्वृष्टियुक्ताः **परितः** सर्वतो **वाजम्** अन्नं वै वाजः प्रसादं भोजनार्थम् **आसते** आशां कुर्वन्तः तिष्ठन्ति. पाति इति **'पिता'**, **एषां प्रत्नः** प्रयत्नवान् व्रतं रक्षति. **महः** स्वयं तेजोरूपेण **"महः ते विष्णो सुमतिं भजामहे"** (ऋक्संहि.१।१५६।३) इति सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्याख्यातं श्रीमद्गोस्वामिचरणैः. तेन गुरुरूपेण व्रतं रक्षति इति अर्थः. **समुद्रं** लीलासमुद्रं **वरुणो** अपाम् अधिपतिः रसाधिपतिः **तिरोदधे, धीराः** धैर्यवन्तो धरुणेषु हृदि भगवच्चरणारविन्दधारणशीलेषु इच्छां कुर्वन्ति, **आरभम्** आसमन्ताद् आरब्धं सेवाख्यवर्त्माद्भुतं वाञ्छन्ति इति अर्थः. **पवित्रं ते** यशः **विततं** विस्तृतम्. हे **ब्रह्मणस्पते:** इति सम्बोधनाद् वेदोक्तधर्मकर्तॄणां ब्राह्मणानां पतिः पालकः, **प्रभुः** सर्वसमर्थः **गात्राणि** भक्तानाम् अंगानि **पर्येषि** व्याप्नोषि विरहरूपेण, **विश्वतः** सर्वतः विश्वतो भयात्. विश्वस्मिन् मायया व्याप्ताः तनवो तप्ततनवः, **तद्** यशः तस्माद् **आमः** = अपक्वः विरहतापाभाववतां भोगं न करोषि इति **न अश्नुते, शृतासः** परिपक्वतनवः एवं विरहं निर्वहन्तः तत्र तद्यशः सम्यक्प्रकारेण **आशतः** आशां कुर्वन्तः भोगं करोषि इति. ब्रह्मादीनां कर्ता, तेषां तपसां फलदायकः. भक्तानां विरहेण आर्तिदाता, तद्द्वारा भजनानन्दरूपं फलं दास्यति इति भावः. **"दीक्षा असि तपसो योनिः, तपो असि ब्रह्मणो योनिः,**

ब्रह्म असि क्षत्रस्य योनिः, श्रद्धां मनसा, दीक्षां तपसा"(तैत्ति.ब्रा. ३।७।७।१-२), "**अतप्ततनूः न तदामो अश्नुते**" (ऋक्संहि.९।८३।१) "**आचार्यवान् पुरुषो वेद**" (छान्दो.उप.६।१४।२) इति. "**आचार्यं मां विजानीयाद्**" (भाग.पुरा.११।१७।२७) इत्यादिवाक्यैः श्रीमदाचार्यानुग्रहतः फलप्राप्तिः इति सर्वम् अनवद्यम्.

(उपसंहारः)

श्रुत्यर्थसारनिर्धारः पुष्टिस्थानां फलप्रदः ॥
श्रीमदाचार्यकृपया गद्यार्थोऽयं निरूपितः ॥१॥

इति श्रीमज्जगन्नाथात्मजश्रीव्रजाभरणदीक्षित-
विरचितो गद्यार्थः
समाप्तः



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोवर्धनेशो जयति ॥

॥ गद्यार्थः ॥

(मंगलाचरणम्)

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् श्रीकृष्णास्यस्वरूपिणः[१]।
तत्समर्पणगद्यार्थं वर्णयामि यथामति ॥

(निवेदनगद्यपदानां विवेचनम्)

ननु श्रीमत्प्रभुचरणैः नवरत्नप्रकाशे निवेदनस्य आवश्यकत्वाय साक्षाच्छ्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वं निरूपितम्, तत्[२] कथम्? इति प्रकारजिज्ञासायां भगवदुपदिष्टश्रीमदाचार्यसमर्पणगद्यार्थो विचार्यते.

सहस्र इत्यत्र **'सहस्र'** शब्दो अनन्तसंख्यावाची. तेन स्वव्युच्चरणसमर्पणान्तरालिकवर्षाणाम् असंख्यातत्वम् उक्तम्. अत्र सम्वत्सरादिपदानि अनुक्त्वा **परिवत्सर** इति यद् उक्तं तस्य अयम् आशयः : श्रुतौ सम्वत्सरात्मककालस्य चत्वारो भेदाः निरूपिताः, सम्वत्सरः परिवत्सरो अनुवत्सरः इदावत्सरः इति. तत्र परिवत्सरस्य आदित्यरूपता उक्ता. **"अग्निः वाव सम्वत्सरः आदित्यः परिवत्सरः चन्द्रमा इदावत्सरः वायुर् अनुवत्सरः"** (तैत्ति.ब्रा.१।४।१०।१) इति. तेन यथा मिलितानाम् अनन्तानाम् आदित्यानाम् अतिसन्तापकत्वं, तथा जातभगवद्वियोगाधारस्य संसारहेतोः अनन्तपरिवत्सरमितमहाकालस्य अतिसन्तापकत्वम् इति ज्ञापनाय **परिवत्सर** इति उक्तम्.

'कृष्ण' पदेन रसात्मकत्वोक्त्या तद्वियोगेन पूर्वम् आनन्दांशातिरो-

धानावसरे जनितानाम् उत्तरपूर्वदलरूपाणां तापक्लेशानन्दानां फलरूपत्वाद् अधुना तत्तिरोभावाधिकरणत्वेन स्वस्य फलसम्बन्धाभावः उक्तः.

यद्वा, तापक्लेशाभ्याम् उत्तरदलात्मको यः आनन्दः तत्तिरोभावाधिकरणम् इति अर्थः. एतेन प्रथमसृष्टौ उक्तत्रिविधमार्गेषु पुष्टौ विचारितांगीकाराद् भगवदिच्छया उच्चनीचभावेन उत्पन्नाः जीवाः तेषामेव तदानीं **कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दा**अपि, इतरेषान्तु स्वस्मिन् ब्रह्मत्वस्फूर्तिरिव. ततो भगवदाकाररूपानन्दतिरोधानेन निराकाराणां सर्वेषां ब्रह्मत्वस्फूर्तिः वियोगजधर्मतिरोभावो यथायोग्यम्. तेन कृष्णवियोगविशिष्टत्वं यद्यपि सर्वेषां तथापि पुष्टौ विचारितांगीकाराणामेव निवेदनेन तिरोहितवियोगजधर्माणाम् अग्रे तद्वृद्ध्यर्थं[१घ] बीजत्वेन आविर्भावो, न अन्येषां, पूर्वम् [३]असत्त्वाद् इति ज्ञापितम्. ननु तदानीं जीवानां देहाद्यभावाद् वियोगतापासम्भवः इति चेद्, न; तदानीमपि आनन्दाकारो अस्त्येव. तेन तादृशसौन्दर्यदर्शनेन पुष्टिभावोत्पत्त्या पृथक्स्थित्या तत्सम्भवः.

ननु जीवस्य भगवद्वियोगजनितः संसारात्मकएव तापो अस्तु. क्लेशोऽपि जन्ममरणादिरूपएव, अतएव आनन्दतिरोभावोऽपीति किमिति तथा अर्थकथनम् इति चेद्: न, '**कृष्णवियोग**'पदोपादानवैयर्थ्यात् शास्त्रविरोधात् च. तथाहि : '**कृष्ण**'पदाद् रसात्मकत्वोक्त्या वियोगस्य तत्सम्बन्धित्वेन उत्तरदलरूपत्वेन तज्जनिततापक्लेशयोः तन्मध्यपातित्वात् तथात्वेन वक्तुम् उचितत्वात्, अन्यथा निरूपणे '**कृष्ण**' पदवैयर्थ्यं 'वियोग'पदोपादानवैयर्थ्यञ्च. 'ब्रह्मविभेदः' इत्येव च युक्तं स्यात्, शास्त्रविरोधस्तु "**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्धविपर्ययौ**" (ब्र.सू. ३।२।५) इति ब्रह्मसूत्रव्याख्याने जीवस्य ऐश्वर्यादिभगवद्धर्मतिरोधानेन अनीश्वरत्वादिविपरीतधर्मवत्त्वनिरूपणे श्रीमत्प्रभुचरणैः विद्वन्मण्डने निरूपितम् "**आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः**"

(द्रष्ट. : अणुभा.३।२।५) इति. तेन अत्र आनन्दतिरोभावस्य प्राकृततापक्लेशानन्तर्योक्तौ शास्त्रविरोधश्च. अतः तथा अर्थो अत्र न विवक्षितः इति अवगन्तव्यम्.

भगवते इति, जीवे साक्षाद्भजनयोग्यता तदैव भवति यदि तत्र भगवद्धर्माविर्भावः. सच सर्वांशेन सर्वसमर्थतत्सम्बन्धादेवेति तथा उक्तम्. सोऽपि मर्यादास्थः चेत्, तत्सम्बन्धो भगवद्धर्माविर्भावद्वारा तत्सम्पादको न भवेदिति **कृष्णाय** इति उक्तम्.

कृष्ण इति मूलनामोक्त्या यशोदोत्संगलालितः उक्तः. सच पुष्टिस्थएवेति तत्सम्बन्धेनैव तद्द्वारा साक्षात् तद्योग्यता भवतीति तथा उक्तम्. '**कृष्ण**'शब्दस्य रसात्मकवाचित्वेन तदुभयदलात्मकवाचित्वेऽपि एवं सम्प्रदानस्वरूपम् उक्त्वा 'श्री'पदाभावाद् अग्रे '**श्रीगोपीजनवल्लभ**'पदसमभिव्याहाराद् गोबलीवर्दन्यायेन अत्र तदुत्तरदलात्मकत्ववाचित्वमेव. तेन तादृशे सर्वसमर्पणोक्त्या स्वस्यापि प्रचुरतद्भावोत्पत्तौ हेतुः उक्तः. तेनैव साक्षाद्भजनाधिकारो यतः.

ननु उत्तरदलात्मके भगवति सर्वसमर्पणेन विगाढभावोत्पत्तिः आस्तां नाम, संयोगरसार्थन्तु साधनान्तरं मृग्यम् इति चेत्, तत्र आहुः **श्रीगोपीजनवल्लभाय** इत्यत्र '**श्रीगोपीजनवल्लभ**'पदेन शृंगाररसरूपत्वम् उक्तम्. तेषां गोपीजनानां वल्लभः तद्रूपएवेति. अत्र '**श्री**' पदेन ताएव उच्यन्ते, तेन तद्युक्तत्वकथनेन पूर्वदलरूपत्वम् उच्यते. यद्वा "**चकास गोपीपरिषद्गतो**" इत्यत्र उक्तानिर्वचनीयश्रीयुक्तः, यद्वा श्रीयुक्ताश्च ते गोपीजनाः च इति 'श्री'पदं गोपीजनविशेष्यकम्, अलौकिकतद्युक्तत्वन्तु भगवत्सम्बन्धएवेति तद्वल्लभत्वेन संयोगे विविधरसदातृत्वम् उक्तम्. तेन पूर्णशृंगाररसात्मके कृतेन आत्मनिवेदनेनैव संयोगरसस्यापि प्राप्तिः

भवतीति न तदर्थं साधनान्तरापेक्षा इति भावः. यद्वा सर्वसाधनरहितस्य लौकिकैकनिरतस्य मम केवलसमर्पणेनैव कथं परमकाष्ठापन्नफलरूपभगवद्भावप्राप्तिः भविष्यति इति चिन्तायाम् आहुः **श्रीगोपीजनवल्लभाय** इति. "**अह्न्यापृतम्**" (भाग.पुरा.२।७।३१) इति वाक्यात् तादृशीनां तासां स्वप्राकट्यसमये सर्वसमर्पणेनैव उत्तरोत्तरभजनप्रवृत्त्या भावदार्ढ्येन "**सन्त्यज्य सर्वविषयान्**" (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति त्यागानन्तरं परमकाष्ठापन्नफलरूपस्वरूपदानं कृतवान् तद्वल्लभश्च जातइति तादृशे सर्वसमर्पणेनैव स्वस्यापि सर्वं भविष्यति इति भावः.

एवं सम्प्रदानस्वरूपम् उक्त्वा **समर्प्यम्** आहुः **देहेन्द्रिय...**इति. प्रथमं जीवस्य अविद्यया अहंममात्मकसंसारसम्बन्धेन देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च अध्यासोत्पत्त्या अपस्मारिणः पूर्वानुसन्धानाभाववद् भगवद्वियोगास्फूर्त्या तद्धर्मतापक्लेशानन्दतिरोभावो भवति. अतो अध्यासस्य अनिष्टरूपत्वात् तन्निवृत्तिः आवश्यकी. सापि न ज्ञानमार्गरीत्या, तथा सति भजनाधिकारो न स्यात्. अतः तेषु भगवति निवेदनलक्षणसंस्कारेणैव निरन्तरसेवाप्रवृत्तौ क्रमेणैव सा भवतीति **देहादि** उक्तम्. किञ्च "**तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्**" (कठोप.१।२।२३) इति श्रुतौ "**अक्षण्वताम्**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इति भागवतेऽपि च पुष्टिमार्गे भगवति देहादिसर्वविनियोगः उक्तः. सच न दोषवत्त्वेन प्राकृतानां संभवतीति भगवत्सम्बन्धलक्षणसमर्पणसंस्कारेण निर्दोषत्वार्थं **देहेन्द्रियादि** उक्तम्. अतः तदनन्तरमेव तदभावः इति सिद्धान्तरहस्ये श्रीमदाचार्यैः उक्तम् "**ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः हि**" (सिद्धा.रह.२) इति. नवरत्नप्रकाशेऽपि श्रीमत्प्रभुचरणैः समर्पणस्य गायत्र्युपदेशजसंस्कारदृष्टान्तो निरूपितो "**गायत्र्युपदेशजसंस्कारवद्**" (नव.प्रका.१) इति. तेन यथा सर्वदोषनिवृत्त्या वैदिककर्माधिकारः तथा तेन तन्निवृत्त्या भजनाधिकारः इति उक्तम्. अतएव साक्षाद्भजनमार्गप्रवर्तकश्रीस्वामिनीभिः प्रथमं

श्रीमुखावलोकनानन्तरम् आत्मसमर्पणमेव कृतम् इति **"आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः"** (भाग.पुरा.१०।५।९) इत्यत्र श्रीमदाचार्यैः निरूपितम्. अतएव अग्रे भगवान् पूतनारूपाविद्यानिवृत्तिपूर्वकं तत्पर्वरूपदेहाद्यध्यासं क्रमेण तत्तल्लीलाभिः निरोधेन निवारितवान्. अतएव भगवदर्थत्वेन तासां देहादिषु प्रियत्वं, नतु तदध्यासेन.

किञ्च, यावत् क्रियास्पर्शेक्षणबलस्मरणादितद्धर्मसम्बन्धो भगवति न क्रियेत, तावत् तेषां लौकिकत्वाद् भजने सर्वात्मना देहादिप्रवृत्तौ बाधकाएव भवेयुरिति पृथक् तत्समर्पणं कर्तव्यमिति **तद्धर्मांश्च** इति उक्तम्. चकारः समुच्चये.

किञ्च, देहादिसमर्पणेऽपि तत्सम्बन्धिममताविषयदाराद्यसमर्पणे तत्संगदोषेण स्वधर्महानिः ममताभावाभावश्चेति तत्संस्कारोऽपि आवश्यक-इति **दारागार...** इति उक्तम्. अतएव एतन्निबन्धनो अयं विधिः **"गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेद्"** (भ.व.२) इति.

इहपराणि इति, इहलोके पापपुण्ययोः सम्भवात् तत्समर्पणे तदभावः. कदाचिद् जीवस्वभाववशाद् लोकसंग्रहात् च तत्सम्भवे तद्भोगार्थं परलोकगतौ प्रभुप्राप्तिविलम्बो भवेत् तदभावार्थं परलोकसमर्पणम्. तत्समर्पणेतु तत्र जातपापपुण्यफलदुःखसुखभोगोऽपि भगवत्सम्बन्धिवियोग-जतापेन अन्तर्भगवदाश्लेषेण च भवतीति न तद्भोगकृतविलम्बः. अतः **इहपराणि** इति उक्तम्. इदमेव फलप्रकरणे सगुणगोपिकाविषये **"तीव्रतापधुताशुभाः"** (भाग.पुरा.१०।२६।१०) इत्यस्य विवृतौ श्रीमदाचार्यैः उक्तम्.

अत्र **आत्मना** इति आत्मनो अप्रधानत्वोक्तेः अयम्

आशयः : आत्मनो भगवदंशत्वात् सहजदासत्वात् च सहजदोषाभावेन तथा न दुष्टत्वं, देहादीनान्तु सहजदुष्टत्वमेव, अतः तेषामेव संस्कारे मुख्यत्वम् उक्तम्. पुष्टिमार्गीयस्यैव तस्मात् तादृग्दुष्टशोधकत्वम्, न अन्यस्य इत्यपि ज्ञापितम्. अतएव प्रमाणप्रकरणे "**आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः**" (भाग.पुरा.१०।५।९) इत्यस्य विवरणे "**तासाम् आत्मैव निवेदनीयः इति आत्मानमेव भूषयाञ्चक्रुः**" (सुबो.१०।५।९) इति उक्तम्. तत्र '**एव**'कारेण केवलस्यैव तस्य तदुक्त्या तासां देहादीनामपि आत्मरूपत्वेन तस्यैव मुख्यत्वम् उक्तम्. अत्रतु तदभावाद् देहादीनामेव मुख्यता उक्ता.

समर्पयामि इति उक्त्या भक्तिमार्गएव समर्पितसाक्षादंगीकारात् समर्पणस्य तद्धर्मत्वेन स्वदेहादीनामपि तथांगीकारसिद्ध्यर्थं **समर्पयामि** इति उक्तम्. तेन निवेदितानां देहादीनां यथायोग्यं साक्षाद्भगवत्कर्तृकभोगः उक्तो भवति. यतः तेनैव कृतार्थता. अतएव अन्तःकरणप्रबोधे श्रीमदाचार्यैः उक्तम् "**सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि**" (अन्तः.प्रबो.८) इति. एवं सर्वांशेन अविद्यानाशे सेवया निरोधो भवति इति सिद्धम्. एतदेव उक्तं पूतनामोक्षप्रसंगे "**अतः परं निरोधो अत्र निरोधस्तु गोकुले सुगमो भवेद्**" (सुबो.१०।६।१३) इति. सर्वत्र लौकिकेषु भगवत्प्रवेशात्. प्रमाणप्रकरणे तदेव उक्तम् "**लौकिकेषुतु धर्मेषु**" (सुबो.कारि.१०।५।५) इति. यथा प्रमाणप्रमेयप्रकरणीयलीलाभिः अविद्यापर्वनिवारणपूर्वकं स्वरूपेण निरोधं कृतवान् एवं समर्पणानन्तरं सेवाप्रवृत्त्या देहादौ अहन्ताममतात्याजनेन जीवस्यापि स्वरूपेण तथा करिष्यति इति भावः. अतएव दशमविवृत्तौ "**भगवान् लीलां कुर्वन् मार्गमर्यादां च प्रदर्शयति**" (सुबो.१०।   ) इति उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः. अत्र अयम् अभिसन्धिः : पुष्टिमार्गो ज्ञानमार्गाद् विलक्षणः इति यथा तत्र मार्गे शमदमादिसाधनैः अहन्ताममतानाशः ततो ज्ञानोदये मोक्षः, तथा पुष्टिमार्गे स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं सेवाप्रवृत्तौ तत्रैव देहादिविनियोगे भगवति प्रेमोत्पत्त्या

तद्विषयकाध्यासनिवृत्तिः, ततो विगाढभावेन देहावसाने साक्षाद्भजनानन्दानुभवः. एतदेव मुक्तावल्याम् उक्तम् "**ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्**" (सिद्धा.मुक्ता.२) इति.

दासो अहम् इति, यथा ब्रह्मबीजत्वेन जात्या सामान्यतो द्विजत्वेऽपि गायत्र्युपदेशजसंस्कारानन्तरं विशेषतो द्विजत्वव्यपदेशः. एवं जीवत्वसामान्येन सामान्यतो दासत्वेऽपि समर्पणानन्तरं विशेषतः तत्त्वेन व्यपदेशः इत्यन्ते तथा उक्तम्. अतएव अन्तःकरणप्रबोधे श्रीमदाचार्यैः उक्तम् "**इति श्रीकृष्णदासस्य**" (अन्तः.प्रबो.१०) इति. यद्वा पूर्वं जीवस्य देहादितुल्यत्वेन सर्वदोषपरिहारार्थं तत्र निवेश्य समर्पणम् उक्तम्. तस्मिन् सम्पन्ने सर्वदोषनिवृत्तेः अपस्मारनिवृत्तेरिव स्मृतदासत्वस्वसहजधर्माः प्रभुसेवायाम् अत्यार्तः शुद्धः पूर्वस्माद् भिन्नएव द्विजइव. यथा स वैदिककर्माधिकारी तथा अयमपि साक्षाच्छ्रीगोकुलेशभजनाधिकारी जातः इति अन्ते शुद्धः स्वतन्त्रतया उक्तो **दासो अहम्** इति. यद्वा, प्रागज्ञातस्वसहजदासभावो महापुरुषानुग्रहेण पश्चात् तदुपदेशेन ज्ञाततथाभावो अहं पूर्वम् अज्ञातस्वभावस्य पश्चात् केनचिद् ज्ञापितस्य स्वभावस्य द्विजातेः स्वस्य कर्मयोग्यत्वाय गायत्र्युपदेशजसंस्कारवद् दास्ययोग्यतायै तथा करोमि इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे अन्यथानुपपत्त्या **तिरोभावो अहम्** इत्येतदग्रे 'आसम्' इति अध्याहार्यम्. अत्र एकस्यैव आत्मनः कर्मत्वं; कर्तृत्वन्तु, "**उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्**" (भग.गीता.६।५) इतिवत्. अत्र **अहम्** इति द्विरुक्त्या पूर्वं तापक्लेशानन्दतिरोभाववत्त्वेन बाधकाहंकारयुक्तत्वम् उक्तम्. पश्चाद् अन्ते दासत्वेन साधकतद्युक्तत्वम् उक्तम्. तेन पूर्वं ममताविषयेषु ममाभिमानस्यापि बाधकत्वम् उक्तम्. अधुनातु तेषु भगवदीयत्वेन तस्यापि साधकत्वम् उक्तम्. यद्वा न मया प्रभवे किञ्चिद् उपकृतं किन्तु त्वदीयमेव तुभ्यं समर्पितं, प्रत्युत चिरकालं बाहिर्मुख्येन तदसमर्पणेन सापराधः चाण्डालतुल्यः, अतः

स्वतः तत्समर्पणे अनर्हः श्रीमदाचार्यचरणद्वारा सर्वं समर्पयामि, यतः तद्बलेनैव अंगीकरोति भगवान्, न मयि किञ्चिद् इति दैन्यमपि **दासो अहम्** इत्यनेन ज्ञापितम्. अतएव अन्तःकरणप्रबोधे हीनदृष्टान्तः. तेन दासस्य सदा दैन्यभावएव आवश्यकः इति सूचितम्. अतएव फलप्रकरणे "**भक्तानां दैन्यमेव एकं हरितोषणसाधनम्**" (सुबो.कारि.१०।२-९।२) इति उक्तम्. तत्तु तदैव स्याद् यदि सर्वदोषनिवृत्तिः. तदेव "**रुरुदुः सुस्वरम्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१) इत्यत्र निरूपितम्. सापि उत्तरदलात्मके प्रभौ तद्दलात्मकास्यरूपश्रीमदाचार्यचरणद्वारा आत्मसमर्पणे महाग्नौ तृणानामिव भवति. एवं सेवायां मध्यमहीनाधिकारिपरत्वेन समर्पणविधिः उक्तः. उत्तमाधिकारिणान्तु दोषाभावेन प्रेम्णा आर्तिपूर्वकं साक्षात् समर्पणम्. अतएव प्रमाणप्रकरणे "**आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः**" (भाग.पुरा.१०।५।९) इत्यारभ्य "**ताः आशिषः प्रयुञ्जाना**" (भाग.पुरा.१०।५।१२) इत्यन्तेन आर्तिपूर्वकं साक्षात्कृतं मुख्यं समर्पणम् उक्तम्. नवरत्नेऽपि "[१]**अज्ञानाद् अथवा** [२]**ज्ञानाद्** ([३]**...यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः**)" (नव.४) इत्यादिना त्रयः पक्षाः निरूपिताः. तत्र आधुनिकानां तृतीयपक्षायोग्यत्वात् पक्षद्वयमेव. तत्र द्वितीयेऽपि केचिदेव अधिकारिणः इति तत् पक्षम् आदाय उक्तं **दासो अहम्** इति. हीनपक्षेतु बालोपदेशत्वमेव.

(भक्तिवर्धन्युक्तबीजभाववृद्धिप्रकारविवेचनम्)

अतः समर्पणस्य सर्वदोषनिवर्तनद्वारा पूर्वतिरोहितभक्तेः सूक्ष्मबीजभूततापात्मकफलरूपभक्तिजनकत्वेन[४] पुष्टिमार्गीयसंस्काररूपत्वम् इति निश्चीयते. गायत्र्युपदेशजसंस्कारस्य पूर्वदोषनिवृत्तिद्वारा बीजभूतब्रह्मत्वजननेन[५] संस्कारवत्. यथा तत्कर्मज्ञानादिसाधनैः प्रवृद्धम् आत्मनि देहादिषु च सर्वतः आविर्भूतं तेषां ब्रह्मभावं सम्पादयति. ततः तेन ज्ञानाग्निना भस्मीभूतसर्वकर्मा देहावसाने ब्रह्म प्राप्नोति तथा तत्संस्कारजनितसूक्ष्मबीज-

भूततापरूपभक्तिः भक्तिवर्धिन्युक्तसाधनैः उत्पन्नभगवद्विषयकपुष्टिमार्गीयमनोरथभावनया व्यसनान्तं प्रवृद्धा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु प्रचुरतापरूपेण आविर्भूता तेषां विगाढभावेन "**तन्मनस्काः**" (भाग.पुरा.१०।२७।४-४)इत्याद्युक्तभगवद्भावं सम्पादयति. ततः तया भस्मसात्कृतदेहादिप्रतिबन्धो देहावसाने साक्षात् पुरुषोत्तमं सेवाफलप्रकारेण प्राप्नोति इति अर्थः. तदेव उक्तं संन्यासनिर्णये "**भावो भावनया सिद्धः साधनम्**" (संन्या.निर्ण.८) इति. भक्तिवर्धिन्यामपि 'बीज'पदेन बीजरूपेण इयमेव उक्ता; नतु अंगीकारादिः. अन्यथा बीजवैजात्येन तद्दाढर्येन अन्यवृद्धिकथनम् अनुपन्नं स्यात्. नहि अनुग्रहादिः स्वरूपसाधर्म्येण तापात्मकभक्तेः बीजम्. तस्याः तदात्मकत्वात्, तस्य तदात्मकत्वाभावात्.

ननु '**बीज**'पदेन कारणमेव उच्यते, तथाच तस्य तत्कारणत्वात् तद्दाढ्र्ये प्रवृद्धा भवतीति चेद् न; 'प्रवृद्धा'इति कथनानुपपत्तेः. तथाहि भक्तिहेतुनिर्णये "**तदनुग्रहैकलभ्याम्**" (भ.हे.नि.१) इति अनुग्रहस्य तल्लाभहेतुत्वोक्तेः लब्धा स्याद् इत्येव उक्तं स्यात्. लाभानन्तरं वृद्ध्युपायः इति तं विना तत्कथनम् असंगतं च स्यात्.

किञ्च दृढानुग्रहस्य भक्तिलाभे निमित्तकारणत्वेन तत्रैव उपक्षीणत्वात् तद्वृद्ध्यर्थं तद्दाढ्र्यस्य अकिंचित्करत्वेन तत्करणम् अनर्थकं स्यात्.

किञ्च 'बीज'पदस्य निमित्तकारणवाचित्वे 'भाव'पदासंगतिः. बीजस्य भावः तत्त्वं सत्ता वा?

तत्त्वपक्षे "**यमेवैष वृणुते**" (कठोप.१।२।२३) इति श्रुत्या "**तदनुग्रहैकलभ्याम्**" (भ.हे.नि.१) इत्यत्र च 'एक'पदेन भक्तेः तदितरसाधनासाध्यत्वोक्त्या कारणत्वदाढर्यस्य पूर्वमेव सिद्धत्वाद् जीवासाध्यत्वात् तत्कृतिकथनानुपपत्त्या तदसंगतिः.

सत्तापक्षेऽपि भक्तिकारणानुग्रहसत्त्वस्य दार्ढ्यं समर्पणेन अंगीकृत्यैव निर्दोषत्वभावनया भगवतैव कृतमिति तत्कथनानुपपत्त्या तदसंगतिः. अतः पुष्टिमार्गीयानुग्रहेण समर्पणसंस्कारजनितबीजभूतसूक्ष्मफलरूपभक्तिरेव 'बीज'शब्दार्थः इति मन्तव्यम्. तथाच यद्बीजं तस्यैव वृद्धिरिति 'प्रवृद्धा स्याद्' इति उक्त्वा 'बीजभावः' इति उक्तत्वाद् भक्तेरेव बीजभावः इति आयाति. 'भाव'पदेन तत्त्वं सत्ता वा अस्मिन् अर्थे 'बीज'पदस्य समवायिवाचित्वेन पक्षद्वयमपि संगतम्. बीजत्वाभावे न वृद्धिरिति तथा उक्तम्. भक्तेः सूक्ष्मतापरूपबीजसत्तायाम् अथवा तस्याः बीजत्वेन सत्तायां प्रवृद्धा स्याद् न अन्यथा इति उक्तम्. तेन समर्पणकृत्या सामान्यतः सर्वेषामेव जीवानां न तथा भवति किन्तु अनुग्रहेण अंगीकृत्या दैवानामेव तथा इति ज्ञापितम्.

एतदेव सेवाफले "**तदा आसुरो अयं जीवः**" (से.फ.वि.२) इति उक्तम्. **अयम्** इति समर्पणानन्तरं लोकरीत्या सेवायां प्रवृत्तः उक्तः. तस्य तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धः आसुरत्वज्ञापकः, तादृशे अनुग्रहाभावात्. भक्तेः बीजभावाभावेन न तद्वृद्धिः इति फलितम्.

एवं सति बीजभावे सति तु पुनः बीजे दृढे सति स्याद् इति पदसम्बन्धो अध्यवसेयः. अग्रे 'बीजदार्ढ्य'इति कथनाद् 'दृढ' इति बीजस्यैव विशेषणम्. अतएव अग्रेऽपि "**बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढम्**" (भ.व.४) इति उक्तम्.

अतएव सूक्ष्मदशायां बीजस्य रक्षार्थं संन्यासनिर्णयकरणम्. तदेव तत्प्रारम्भएव ज्ञापितम् '**पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम्**' (संन्या.निर्ण.१) इति. कृतात्मनिवेदनस्य कुतश्चित् सामान्यतो जातनिर्वेदस्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागस्यैव प्रसिद्धत्वाद् अज्ञानात् तत्करणे तद्धर्माणाम् आवश्यकत्वाद्

बीजपोषकसेवाद्यसम्भवेन भक्तिवृद्ध्यभावात् त्यागकरणे च आरूढपतित-त्वाशंकया पश्चात्तापएव भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं तद्विचारः. अतः समर्पणजनिततापरूपसूक्ष्मभक्तिरेव बीजम् इति सर्वम् अनवद्यम्.

नवरत्नप्रकाशेऽपि "**कस्यचिद् विशेषतो अंगीकारः चेत् सा पुष्टिः**" (नव.प्रका.३) इत्यत्र निवेदनेन भक्तेः बीजत्वमेव ज्ञापितम्. पूर्वं निवेदकसाहित्येन सर्वेषां सामान्यतो अंगीकारः इति **मर्यादा**पदेन ज्ञापितम्, तेषु साक्षान्निवेदनाभावेन अनुग्रहाभावेन भक्तिबीजत्वाभावात्. तदैव तेन तत्सम्भवे पृथक् निवेदनकृतेः अप्रयोजनकत्वात्. अथ तेष्वेव कस्यचिद् विशेषतः पृथक् तत्कृत्या सर्वभावेन अंगीकारः तदैव भक्तिबीजभावजननात्[४] सा पुष्टिः अनुग्रहः इति भावः.

अथवा बीजरूपो भावः स तथा. अस्मिन्नपि पक्षे "**रतिः देवादिविषया भावः**" (द्रष्ट. : साहि.दर्प.३।२६०) इति "**सर्वतो अधिकः स्नेहो भक्तिः**" (द्रष्ट. : त.दी.नि.१।४६) इति वाक्याभ्यां "**सा परानुरक्तिः ईश्वरे**" (शा.भ.सू.२) इति शाण्डिल्यसूत्रात् च बीजरूपा भक्तिरेव प्राप्नोति इति तस्याएव बीजत्वम्. एवं सति 'भाव'-'दृढ'पदयोः विशेष्यविशेषणभावेन अन्वयः. यद्वा बीजरूपो भावः इत्यपि पक्षे बीजपदानर्थक्यम् उभयत्र 'भाव'पदप्रयोगप्राप्तिश्च स्यात्. अथ यदि समर्पणे समर्पणवाक्योक्ततापात्मकभक्तिबीजभूतभावस्मारकत्वं 'भाव'प-दस्य, तदापि 'भक्ति'पदसान्निध्याद् 'बीज'पदेनैव तद्भावस्य स्वतएव प्राप्तेः 'भाव'पदानर्थक्यम्. "**बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु**" (भ.व.२) इत्यत्र अकथनात् च. तस्मात् पूर्वोक्तएव अर्थो गरीयान्. "**त्यागात् श्रवणकीर्तनात्**" (भ.व.१) इत्यत्र हेतौ पञ्चमी. तथाच एताभ्यां हेतुभ्यां तस्मिन् तथा सति इति अर्थः.

यद्वा "**ल्यब्लोपे पञ्चमी**" (पाणि.सू.२।३।२८) तथाच एते

साधने प्राप्य तस्मिन् तथा सति इति वा अर्थः. साधनैः बीजपोषाभावे सा तथा न स्यात्. तदेव निबन्धे विवृतं "**पूर्ववासनया (संस्कारवशात्) फलकामनया वा जायमानाः प्रीतिः गौणी स्याद्**" (त.दी.नि.प्र.२।२२०) इति. एवं "**गृहं सर्वात्मना**" (त.दी.नि.२।२२१) इत्यादि निबन्धोक्तप्रकारद्वयं सामान्यतो निरूप्य "संन्यस्य श्रवणं कुर्याद्" इतिवद् उभयोः परस्परम् अंगांगीभावेन साक्षात् परम्परया साधनत्वम् उत स्वतन्त्रतया इति आशंक्यः विशेषतः आहुः **बीजदार्ढ्ये** इति. निबन्धे "**कृष्णसेवापरम्**" (त.दी.नि.२।२२७) इत्यादिना यः उत्तमत्वेन प्रकारः पूर्वं निरूपितः सएव अत्रापि पूर्वं निरूप्यते. अत्र वर्णाश्रमधर्मात्यागो भगवत्सेवोपयोगिनां स्वस्य गृहादीनां च दोषाभावाय. एतदेव निबन्धेऽपि उक्तम् "**अथापि धर्ममार्गेण**" (त.दी.नि.२।२१५) इति. प्रेमाभावेन सेवापि पूजातुल्या इति ज्ञापनार्थं तत्प्रकारेषु 'पूजा'पदम्. **पूजयाइति** सेवाप्रकारैः इति अर्थः. **अव्यावृत्तः** इति चित्तचाञ्चल्याभावाय. **पूजया** इति पूर्वोक्त्या सेवा मुख्या, तदनवसरे श्रवणादि इति ज्ञापितम्. सर्वथा वृत्त्यभावे व्यावृत्तत्वेन आसुरभावप्रवेशः स्यादिति तदभावाय **हरौ चित्तंयथा** भवति तथा श्रवणाद्यर्थं यत्नं कुर्यात्. एतदेव "**जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आहुः पठेच्च नियमं कृत्वा**" (त.दी.नि.प्र.२।२३२) इति निबन्धे निरूपितम्. **सदा** इति नियमार्थम्. एवं कुर्वतो बीजं क्रमेण व्यसनान्तावस्थां यदा प्राप्नोति तदा तद् अस्मिन् भक्तिशास्त्रे दृढम् उच्यते. अग्रे नाशे करणस्य आवश्यकत्वात् कालादीनाम् अध्याहारः. ततश्च आवश्यकनाशककालादिभ्योऽपि न नश्यति इति अर्थः. तदेव संन्यासनिर्णये निरूपितं "**हरिः अत्र न शक्नोति**" (संन्या.निर्ण.१९) इत्यनेन.

बीजदार्ढ्यानन्तरं गृहादित्यागे हेतुम् आहुः **स्नेहाद्...** इति, स्नेहासक्ती कोमलमध्यभावौ. तथाच पूर्वं भगवत्स्नेहेन गृहादिरागाभावः,

औदासीन्येन स्थितिः इति यावत्. ततो मध्यभावे गृहारुचिः 'कदा त्यक्तव्यम्!' इति. ततो व्यसनभावेन गृहस्थेषु बाधकत्वानात्मत्वस्फूर्तिः, तद् आहुः **गृहास्थानाम्** इति. पूर्वमपि 'गृह'पदेन गृहस्थाएव लक्ष्याः. तेषामेव विजातीयभाववत्त्वेन बाधकत्वात्. तत्सम्बन्धिधर्मो भावबाधकत्वं अनात्मत्वं च आत्मीयत्वाभावो 'न एते मम आत्मसम्बन्धिनः किन्तु देहसम्बन्धिनएव' इति. यद्वा आत्मा भगवान् न तत्सम्बन्धिनः एते किन्तु विषयसम्बन्धिनः इति तथात्वं च भासते. तदैव तद्ज्ञातं भवति नान्यदा इति अर्थः. ततएव "त्यागो न विधिना" इति उक्तम्. "**यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे**" (भ.व.५) इति वाक्यं देहलीदीपन्यायेन आवृत्त्या योजनीयम्. एवं सति यदैव एतत् स्यात् तदैव एवं स्फुरति नान्यदा. अतएव **कृष्ण**पदम्. नहि आर्तिदानां तेषां परमानन्दव्यसनवतः तथात्वं न भासते. तदेव फलप्रकरणे व्यसनभाववतीभिः निरूपितम्. "**पतिसुतादिभिः आर्तिदैः किम्!**" (भाग.पुरा.१०।२६।३३) इति. यदैव च एतत् स्यात् तदैव कृतार्थश्च स्यात्. व्यसनभावोत्पत्तिपर्यन्तमेव साधनकृतिः. अग्रे तस्य कर्तव्याभावात् कृतार्थता. यथा वृक्षादिबीजे जलसेकादिना शाखापर्यन्तं दृढे सति अग्रे जलाद्यभावे स्वयमेव वर्धते वृक्षादिः तथा भक्तिबीजे व्यसनपर्यन्तं दृढे स्वयमेव दशम्यवस्थापर्यन्तं भक्तिवल्ली वर्धते. सैव मानसी. फलन्तु एतद्देहावसाने कृष्णाख्यं फलिष्यति. युक्तम् एतत् रसात्मकं बीजं रसात्मिका वल्ली, रसात्मकं फलम् इति.

गृहएव यद्यपि व्यसनभावसम्पत्तिः तथापि तत्त्यागावश्यकत्वम् आहुः **तादृशस्य** इति. व्यसनं प्राप्तस्यापि कालादिभयाभावेऽपि विकलत्वास्वास्थ्यादीनां भाव्यत्वाद् गृहस्थितौ सेव्यसेवादिना स्वास्थ्यसम्भ-वात् तेषाम् उत्पत्त्यभावात् कञ्चित्कालं स्थितावपि पूर्णविरहदशानुभवाभा-वात् तत्र सततं स्थानं प्रवृद्धभक्तिनाशकं भवेदिति तत्त्यागावश्यकत्वम्

उक्तम्. संन्यासनिर्णयेऽपि **"विरहानुभवार्थम्"** (संन्या.निर्ण.७) इति उक्तम्. एवं भक्तिवृद्धौ उत्तमप्रकारं निरूप्य पूर्वोपक्रान्तोत्तमोत्तमप्रकारं निरूपयन्ति **त्यागं कृत्वा** इति. यस्तु समर्पणानन्तरमेव साधनरूपसेवां विना तत्क्षणमेव जन्मान्तरसंस्कारतः सद्यो भगवदनुग्रहेण च उद्बुद्धभगवदासक्तिः गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च ज्ञात्वा तत्त्यागं कृत्वा **तदर्थार्थैकमानसः** पूर्वम् उपक्रान्तत्वाद् भक्तिवृद्ध्यर्थमेव मानसं यस्य तादृशः सन् प्रत्यहं पर्यटनादिरूपं निबन्धोक्तं प्रयत्नं कुर्यात्, सोऽपि सुदृढां नाशाप्रतियोगिनीं मोक्षफलकज्ञानादिभ्योऽपि अधिकां श्रवणादिसाधनानाम् एतद्जन्मनि च फलरूपां विगाढभावात्मिकां परां लभते. गृहस्थस्य भार्याद्यनुकूल्याभावेन त्यागे उक्तोत्तमाधिकाराभावेन एकत्र स्थित्या दुःसंसर्गान्नदोषसम्भवाद् बाधकभूयस्त्वम्. अतः तेन निःसाधनसर्वदुःखहर्तुः पुष्टिमार्गीय-महापुरुष-सेवितपुरुषोत्तमस्य स्थाने यत्र पुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारः तत्र स्थेयम्.

तत्रापि न औदासीन्येन, तथासति तीर्थवत् ततः पापनाशएव भवेद् न भक्तिवृद्धिः किन्तु यथा तत्रत्याः भगवदीयाः सेवायां तत्पराः तथैव तैः सह स्वेनापि तत्परेणैव स्थेयम्. एवं तस्यापि भक्तिवृद्धिः स्यात्. एवम् उत्तमसाधनप्रकारे बाधसम्भवे तन्निवृत्तिप्रकारं निरूप्य तस्य कदाचित् तत्रापि अभिमानादिदोषसम्भवेन दुष्टे चित्ते बाह्यसेवाकृतिरपि अप्रयोजिकेति भक्तिवृद्ध्यभावइति दोषाभावार्थं तत्र स्थितेः अनैयत्यम् आहुः **अदूरे** इति. **विप्रकर्षे** सेवाभावेऽपि भगवद्गुणपरतया स्थेयम्. तेनापि भक्तिवृद्धिः इति ज्ञापनार्थं **सेवायां वा कथायां वा** इति विकल्पो, गुणानां भगवतश्च साम्यात्. 'कथा'पदेन स्वस्य वक्तृत्वासामर्थ्येन श्रवणमपि अत्र आवश्यकम् इति सूचितम्. 'आसक्ति'पदेन क्षणमात्रं तस्य न अन्यव्यासंगः इति ज्ञापितम्. **दृढा** विषयानपनोद्यता.

एवं वर्तमानस्य **यावज्जीवं** कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले नाशो न भवति. **नाशो** अत्र भावनाशः. **इति मतिः मम** इति श्रीमन्महाप्रभुचरणानां गर्भितप्रतिज्ञा. तेन भावानाशे नान्यः प्रकारो अस्मज्ज्ञातो अस्ति इति उक्तम्. यद्यपि सेवाकथयोः आसक्तिदार्ढ्येन बाधसम्भावनैव नास्ति तथापि "कृत्वा चिन्तय" इति न्यायेन हरिस्थाने बाधसम्भावनायां तन्निरासोपायः उक्तः. विप्रकर्षे सर्वदा भगवदीयसंगाभावाद् एकान्तस्थित्या कदाचिद् जीवत्वेन विषयध्यानेन कथायां तत्सम्भवे तत्र **वासो न इष्यते** इष्टसाधनत्वेन न इच्छाविषयः क्रियते. तदा विप्रकर्षदेशं परित्यज्य पुनरपि हरिस्थानएव स्थेयम् इति भावः. तुपुनः तत्रापि तत्सम्भावनायाम्. अतःपरं तन्निराकरणं तस्य अशक्यमिति दैन्यस्फूर्तौ तत्र स्थितौ **हरिरेव सर्वतो** बाधेभ्यो **रक्षां करिष्यति**. तदेतद् उक्तम् "**अशक्ये हरिरेव अस्ति** (वि.धै.आ.९), "**कौन्तेय प्रतिजानीहि**" (भग.गीता ९।३१) इति प्रतिज्ञासूचनार्थं **न संशयः**इति. एवं भक्तिप्रवृद्ध्युपायं निरूप्य उपसंहरन्ति **इत्येवम्** इति. 'इति'इति समाप्तौ प्रकारे वा. प्राक्पक्षे **गूढतत्त्वं भगवच्छास्त्रं एवं** प्रकारेण **निरूपितम्** इति. द्वितीयेतु एवं गूढतत्त्वं भगवच्छास्त्रमिति प्रकारेण निरूपितम् इति. **भगवच्छास्त्रं** पुरुषोत्तमप्रापकसाक्षात्साधननिरूपकं "**सुदृढः सर्वतो अधिकः स्नेहो भक्तिः**" इत्यादिवाक्यरूपम् इति अर्थः. गूढः तत्त्वम् आशयो यस्य तत् तथा. अत्र प्रवृद्धस्नेहमात्रप्रतिपादनात् तद्वृद्ध्युपायबीज-तद्दार्ढ्याद्यप्रतिपादनात् तथात्वम्. यद्वा गूढं भक्तेः तत्त्वं समर्पणजनितबीजं यत्र, तदभावे वृद्ध्यभावेन सुदृढत्वाभावात् तथा.

यद्वा सांगभक्तिप्रतिपादनात् **भगवच्छास्त्रं** श्रीभागवतम्. "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम्**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यादिषु विविच्य बीजभावाद्यकथनात् तदपि तथा. तादृशम् अनेन ग्रन्थेन निरूपितं प्रकाशितम् इति अर्थः. सेवात्यागादिसाधनरहितोऽपि **यः एतद्** अस्मत्कृतं

शास्त्रं गूढतत्त्वनिरूपणेन प्रकाशितं **समधीयीत** विचारपूर्वकं पठेद्. यद्वा **समधीयीत** **"अथवा सर्वदा शास्त्रम्"** (त.दी.नि.२।२५३) इति निबन्धोक्तप्रकारेण तस्यापि सा तथा स्यात्. **अपि** शब्देन तदुक्ताचरणेतु स्यादेव इति कैमुतिकन्यायः प्रदर्शितः. तदेतद् उक्तं निबन्धे **"अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति"** (त.दी.नि.३।१।११). अनेन तद्वृद्धौ तृतीयोपायोऽपि प्रदर्शितः. एतेन भक्तेरेव बीजभावएव सर्वभगवच्छास्त्राणाम् आशयः.

(उपसंहारः)

तेन समर्पणस्य दृष्टार्थजनकत्वेन संस्कारत्वम् इति सिद्धं न अदृष्टजनकत्वेन समर्पणस्य भजनाधिकाररूपत्वमिति सर्वम् अनवद्यम्.

आचार्यचरणाम्भोजसमर्पितपरैहिकः।
तत्समर्पणगद्यार्थं दुर्लभं वल्लभोऽब्रवीत्॥

इति श्रीविठ्ठलरायतनुज-लेखकार-श्रीवल्लभविरचितो
गद्यार्थः समाप्तः[७]



१.श्रीकृष्णास्याम्बुजानलान् इत्यपि पाठः. २. तददृष्टजनकत्वेन दृष्टार्थजनकत्वेन वा इति पाठः. ३. वियोगजधर्माणाम् इति शेषः. ४. भक्त्याविर्भावजनकत्वेन इति पाठः. ५. ब्रह्मत्वाविर्भावजननेन इति पाठः. ६.भक्तिबीजभावः इति पाठः. ७.इति श्रीविठ्ठलरायतनुजश्रीवल्लभविरचितो गद्यार्थः समाप्तः इति अधिकं कुत्रचित्.

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यकमलेभ्यो नमः॥

॥ नवरत्नग्रन्थे श्रीलालूभट्टविरचितं परिशिष्टम् ॥

(शरणागतिमन्त्रस्वरूपनिरूपणम्)

अथ नवरत्नग्रन्थे क्वचित् लिख्यते. "**प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्**", "**भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः**", "**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या**", (भाग.पुरा.७।७।५२,११।१४।२१,९।४।६६) "**भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति**" (महाभा.ता.नि.१।११७) इत्यादि वचोभिः प्रेमलक्षणया भक्त्या भगवान् लभ्यः. "**दारान् सुतान् गृहान् प्राणान्**" (भाग.पुरा.११।३।२८) इत्यारभ्यः "**उद्धव! आत्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणायाः निवेदनलभ्यत्वम्. निवेदनञ्च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धिसम्पादने भवति. "**क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरः ईश कुर्युः**" (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यादिवचनैः निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात् तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात्. जातेच निवेदने पुनः इष्टानिष्ट-प्राप्तिनिवृत्त्युपाय-विमर्शनादिरूप-चिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन बाहिर्मुख्यसम्भवाद् निवेदनवैयर्थ्यं स्यात्. तथा सति न निस्तारः इति परमकृपालुभिः आचार्यचरणैः चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं "**चिन्ता कापि न कार्या**" (नव.१) इत्यादि उपदिदिशे. तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रवणादीनाञ्च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणायाः अनुत्पत्त्या कथं भगवदाप्तिः? इति आशंक्य "**श्रीकृष्णः शरणं मम**" (नव.९) इति अष्टाक्षरमन्त्रो निरन्तरम् आवर्तनीयः. तेनच सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिः च इति उपदिष्टम्.

तत्र कथम् अनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धिः ? इति आकांशायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः **"साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः"** (नव.प्रका.८) इति आभासग्रन्थेन. 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इति अष्टाक्षरमन्त्रे साधनफलयोः एकीकरणात् सर्वसमाधानम् इति भावः.

तथाहि **श्रीकृष्णः** फलरूपः निःसाधनजनोद्धृतिकृताभिव्यक्तिः **'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा'** (त.दी.नि.मं.१) **मम** निःसाधनस्य **शरणं** आश्रयः शक्याशक्यः सम्पादकः इति मन्त्रार्थः.

यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिनैश्चिन्त्याभावः तथापि प्रभोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभं **"तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद्"** (भग.गीता १२।७) इत्यादि वाक्यात्. तत्र साधनक्रमेण चेद् उद्दिधीर्षुः, तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पाद्यः उद्धरति. अन्यथा विनापि साधनं कृतार्थयति. अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम्. अतएव **"शरणं भावयेत् हरिम्"** (वि.धै.आ.१६) इति श्रीमदाचार्यैः उक्तम्. **"भक्तद्रोहे भक्त्यभावे"** (वि.धै.आ.११) इति च. इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्ध्यर्थं हरिं शरणं भावयेद् इति अर्थः.

प्रकृतेऽपि श्रवणादिनवविधभक्तिनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्ध्यर्थम् एतन्मन्त्रावृत्तिः उपदिष्टा. अतः प्रमाणबलविचारेण पूर्वपक्षः. प्रमाणबलविचारेण समाहितिः इति ज्ञेयम्. तथाच फलमेव साधनीकृत्य इति फक्किकार्थः. अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इति मन्त्रार्थः व्याख्यातो ज्ञेयः.

किञ्च अयं मन्त्रो न इतरसाधारणः किन्तु पुष्टिमार्गीयः समर्पणगद्यवत्. अतएव प्रभुचरणैः अभिहितं **"यद् उक्तं तातचरणैः**

'श्रीकृष्ण: शरणं मम' ततएवास्ति नैश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके'' (विज्ञ.१।४७) इति.

पुष्टिमार्गीयत्वञ्च भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाभाववत्त्वम्. तथाच पुष्टिस्थै: अयं मन्त्रो अनवरतम् आवर्तनीय:. मनसा पूर्वोक्त: तदर्थानुसन्धानेन शरणभावनं च कार्यम्. अतएव उक्तम् **''एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेद्''** (वि.धै.आ.१३) इति. एवं प्रपत्तौ भगवान् अशक्यमपि साधयिष्यति इति निष्कर्ष:. अतएव तद्विवृतौ प्रभुचरणै: ऊचे **''सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्''** (नव.प्रका.९) इति. तथा सति चिन्तालेशोऽपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभ:, तेनच भगवत्प्राप्ति: इति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यम् इति कोविदाएव विदांकुर्वन्तु.

॥ श्रीलालूभट्टविरचित: सिद्धान्तरहस्यटीकान्तर्गतनिवेदनविचार: ॥

अथ इदं विचार्यते किं नामनिवेदनं ? किम्प्रयोजनकं ? कतिप्रकारकं च ? इति.

तत्र **''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्''** (भाग.पुरा.११।३।२८) इत्यत्र दारादयो निवेद्यत्वेन निर्दिष्टा:. **''एवं धर्मै: मनुष्याणाम्, उद्धव!, आत्मनिवेदिनाम्''** (भाग.पुरा.११।१९।२४) इति 'आत्म'पदेन देहजीवौ निवेद्यत्वेन उक्तौ, 'आत्म'शब्दस्य उभयवाचकत्वात्. तथाच आत्मनो जीवस्य देहेन दारादिभि: सह भगवत्सेवोपयोगिकरणम् आत्मनिवेदनम्.

तच्च त्रिविधम् : "**अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतम् आत्मनिवेदनं यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना**" (नव. ४) इति नवरत्नग्रन्थात्. तत्र [१]कृष्णसात्कृतप्राणैः यद् आत्मनिवेदनं तद् उत्तमं, [२]भगवत्स्वरूप-स्वस्वरूप-निवेदनस्वरूप-ज्ञानपूर्वकम् आत्मनिवेदनं तद् मध्यमं, [३]प्रेमज्ञानोभयराहित्येन केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोद्गतसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणजन्यम् आत्मनिवेदनं तृतीयम्. एवं त्रिप्रकारके निवेदने यद् उत्तमं तत् प्रेमोत्पत्तिपश्चाद्भावि, द्वितीयं पुष्टिमार्गीयग्रन्थाध्ययनगुरूपदेशजन्यज्ञानान्तरोत्पत्तिकं, तृतीयन्तु केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोत्थसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशोत्तरभावि, नवरत्ने 'अज्ञानाद्'यद् निवेदनम् उक्तं तत् पञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशमात्रजन्यम् इति बोधव्यम्.

एवं त्रिप्रकारकनिवेदनस्य प्रयोजनं भगवत्सेवा तया कृतार्थत्वम्. "**उद्धव! आत्मनिवेदिनां मयि संजायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इति वाक्यात्. इह वाक्ये आत्मनिवेदनान्तरं 'भक्ति'शब्देन प्रेमसेवाम् उक्त्वा "**को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते**" इत्यनेन कृतार्थत्वम् उक्तम्.

ननु पित्रा कृते निवेदने पुत्रस्य भगवदीयत्वे सिद्धेः पुनः पुत्रेण किम् अर्थं निवेदनं विधेयम्? इति चेत्, सत्यम्. भगवदीयत्वेऽपि स्वदेहादौ स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिम् अन्तरेण न भगवदीयत्वबुद्धिः उत्पद्यते. अतः सर्वैरेव स्वस्वाध्यासनिवृत्तये पृथक्-पृथक्-निवेदनं कार्यं, सर्वानेव जीवान् अधिकृत्य निवेदनस्य विहितत्वात् "**सख्यम् आत्मनिवेदनं नृणाम् अयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः**" (भाग.पुरा.७।११।११-१२) इति सप्तमस्कन्धे युधिष्ठरं प्रति नारदवाक्यात्. अतः शास्त्रसिद्धत्वात् पृथक-पृथग् अनुष्ठेयम्. तथाच विशेषतः भगवदीयत्वं सेत्स्यति, अधिकस्य अधिकं फलम् इति न्यायात्. यथा अर्जुनस्य वैष्णवत्वेन पूतत्वेऽपि पौत्रपरीक्षिद्भक्त्या विशेषतः पूतत्वम्. "**त्रिसप्तभिः पिता पूतः**"

(भाग.पुरा.७।१०।१८) इति प्रल्हादं प्रति भगवद्वाक्यात्. यस्य वंशे वैष्णवः उत्पन्नः स पवित्रो भवत्येव इति सर्वसत्सम्मतम्. स्वयं वैष्णवः वैष्णववंशकर्ता चेद् विशेषतः पूतो भवति. ''अधिकं तत्र अनुप्रविष्टं नतु तद्धानिः'' इति न्यायात्. एवं निवेदनेऽपि ज्ञेयम्.

ननु अज्ञानात् केवलमन्त्रोच्चारणेन कथं निवेदनसिद्धिः? इति चेत्, सत्यम्. ज्ञानाभावेन केवलं मन्त्रोच्चारणेनापि धर्मसिद्धेः बालादौ उपलभ्यमानत्वात् तन्न्यायेन अत्रापि निवेदनसिद्धिः इति आकलितव्यम्. बालोहि दानादिधर्मं कुर्वन् पित्रादिशिक्षया 'दातुम् अहं समुत्सृजे' इत्यादि पदम् उच्चारयन् स्वरूपम् अजानन्नपि दानफलम् आप्नोति. तथा अत्र स समर्पणगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणे 'समर्पयामि'इति पदम् उच्चारयन् तत्स्वरूपम् अजानन्नपि समर्पणं फलम् अवाप्नोति. यथावा रोगाद्यातुरकृतधर्मे मूर्खकृतधर्मे शब्दोच्चारणमात्रेण सिद्धिः, एवम् उच्चारणमात्रेण निवेदनसिद्धिः इति मञ्जुलम् अखिलम्.

ननु एकगुरोः उपदेशग्रहणे दम्पत्योः परस्परं भ्रातृत्वाद्यापत्तिः, तद्भिया गुरुपार्थक्यमेव कर्तव्यं, नतु एकगुरुत्वम्! इति चेत्, न. **''आचारो धर्ममार्गश्च गुरुमन्त्रश्च देवताः. दम्पत्यपत्यभृत्येषु एकीकृत्य महत्फलम्''** (   ) इति साधनदीपिकास्थपाद्मोत्तरखण्डवाक्यात्. देहजसम्बन्धएव तथात्वेन पारमार्थिके अस्मिन् निवेदनमन्त्रोपदेशसम्बन्धे गुर्वैक्येऽपि दोषाभावात्. अयम् एकगुरुकत्वरूपः सम्बन्धो न लौकिकः किन्तु भगवत्प्राप्तिसाधनत्वाद् अलौकिको, अलौकिकसम्बन्धस्य लौकिकपदार्थे दोषजनकत्वं न अस्त्येव. अतो नैकगुरुकत्वे दम्पत्योः भ्रातृभगिनीत्वापातः. **''अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातः तथैव च विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम्''** (ब्रह्मवै.पुरा.१।१०।१५३) इति ब्रह्मवैवर्तीयब्रह्मखण्डदशमाध्याये सूतवाक्ये पितृत्वादिविधौ पितृवत्पूज्यतामात्रम् अभिप्रेतम्. अन्यथा अन्नदात्रादीनां पितृत्वेन दम्पत्योः एकपोष्यत्वे

एककर्तृकभयत्राणे च भ्रातृभगिनीभावापत्तिः इति विवाहवैयर्थ्यमेव स्यात्. एवं गुरावपि पितृवत्पूज्यतामात्रम् अभिप्रेतं नतु एकगुरुकत्वसम्बन्धे भ्रातृत्वम् अतो दम्पतिभ्यां भक्तिमार्गे गुर्वैक्यकरणं न दोषाय इति दिक्.

किञ्च, भारते आश्वमेधिके उत्तंकोपाख्याने गौतमेन उत्तंकाय स्वशिष्याय स्वसुता परिणायिता इति उक्तम् "**इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वहः**" इत्यारभ्य: "**ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम्**" (महाभा.१४।५६।२१-२३) इत्यन्तेन. कार्तिकमाहात्म्ये च "**अपुत्रः स च शिष्याय/स्वशिष्याय चन्द्रनाम्ने ददौ सुताम्**" (पद्मपुरा.६।८८।३७) इति उक्तम्. अतो ज्ञायते गुरुपुत्र्या विवाहेऽपि दोषो नास्ति. अन्यथा गुरुपुत्र्यां गुरुतल्पगामित्वं स्यात्, अतः उक्तैव व्यवस्था सुधीभिः आदर्तव्या.

एवं भक्तिमार्गीयशिष्टसम्प्रदायसिद्धपद्धतिके सन्मार्गीयनिवेदनप्रकारे दूषणलेशोऽपि नास्तीति निर्दुष्टः पन्थाः अस्मदाचार्याणाम् आर्याणां च.

गोवर्धनेशपदपंकजलब्धिहेतुः
श्रीवल्लभैः निगदितात्मनिवेदनाख्या।
श्रीविट्ठलप्रकटिता हरिभक्तिः एषा
चर्कर्तु वाञ्छितफलानि अमलाश्रितानाम्॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदितदीक्षितबालकृष्णेन विरचितः सिद्धान्तरहस्यटीकान्तर्गतनिवेदनविचारः सम्पूर्णः



॥ श्रीवल्लभो जयति ॥

॥ गद्यार्थः ॥

(मंगलाचरणम्)

वेदान्तभाष्यवरभागवतोपलब्ध-
स्वात्मार्पणार्थमनुगद्यनिरूपणार्था।
स्वानन्यसेवनपरायणपुष्टिपक्षा
साक्षादहो विजयते भगवन्मुखोक्तिः॥

ननु कथम् एवम् उच्यते भागवतोपलब्धेति? तत्रहि श्लोकरूपतानिबन्धनाद् इति चेत्, सूच्यते हि भागवते चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने. तत्र "**पूर्वतरः कश्चित् सखा ब्राह्मणः आत्मवान्, सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना ताम् आह रुदतीं प्रभो! का त्वं कस्य असि को वा अयं शयानो यस्य शोचसि जानासि किं सखा अयं मां येन अग्रे विचचर्थ ह. अपि स्मरसि च आत्मानम् अविज्ञातसखं सखे, हित्वा मां पदम् अन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः, हंसौ अहं च त्वं च आर्य सखायौ मानसायनौ. अभूताम् अन्तरा ओकः सहस्रपरिवत्सरान्, स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिः महीम्. विचरन् पदम् अद्राक्षीः कयाचिद् निर्मितं स्त्रिया**" (भाग.पुरा.४।२८।५१-५५)

(जीवात्मस्वरूपम्)

अत्र भगवदंशभूतः सनातनः चेतनो जीवलोके जीवभूतः सः हंसो वस्तुतः आनन्दात्मा, **सहस्रपरिवत्सरमितकालजातो** यः **कृष्णस्य सदानन्दस्य पूर्वतरस्य सख्युः** ब्रह्मणः परस्य स्वात्ममूलस्य यो **वियोगः** पराभिध्यानात् तेन **जनितः** उत्पादितो बुद्धिप्रमदासंगम् अनुतापः **क्लेशः**च ताभ्याम् आनन्दस्य भगवद्धर्मभूतस्य **तिरोभावो** यत्र तादृशो अहंकारी

संसारी जीवात्मा "**सः गुरुमेव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**" (मुण्ड.उप.१।२।१२), "**आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति**" (भाग.पुरा.११।२९।६) इह तदा "**कृतार्थः सः निगद्यते**" (बा.बो.७) इति तत्प्रकारश्च श्रीभगवन्मुखोद्भूतवाक्योपदेशानुपदं तादृशाय **श्रीगोपीजनवल्लभत्वेन** प्रार्थिताय **भगवते** पूर्वतरहंसाय **सख्ये कृष्णाय** सदानन्दाय **देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च** दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराणि **स्वात्मना सह समर्पयामि** इति वदन् कुर्यात्. "**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**" (भग.गीता ८।७,१२।१४) "(**न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधीष्ण्यं...**) **मय्यर्पितात्मा इच्छति मद्विना अन्यद्**" (भाग.पुरा.११।१४।१४) "**मच्चिताः मद्गतप्राणाः**" (भग.गीता १०।९) "**दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्**" (भाग.पुरा.११।३।२८) इत्यादिवाक्यप्रामाण्यात्.

(आत्मसमर्पणमन्त्रे 'आत्म'पदार्थः)

अत्र '**आत्म**'पदं वाक्यान्तराभिमतार्थकतया देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणवाचकम् इति तदर्पणं प्रमाणसिद्धम्. तथाच देहादेः अर्पणं "**करौ हरेः मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकार अच्युतसत्कथोदये, स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने**","**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**" (भाग.पुरा.९।४।१८, भग.गीता १८।६५) इत्याद्युक्तप्रकारेण तद्धर्माणां क्षुत्पिपासाकार्यभूतानामपि यथायोग्यं समर्पणं, "**यत् करोषि यद् अश्नासि यद् जुहोषि ददासि यद्, यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम्**" (भग.गीता ९।२७) इति रीत्या ज्ञेयम्. यद्वा किम्भूतानि देहादीनि? **दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराणि** इति. **ईहनम्** ईहा कामः चेष्टितं वा तत्पराणि समुदितान्येव एतानि तत्पराणि. अतएव "**ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तम् इमं परं, हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुम् उत्सहे**" (भाग.पुरा.९।४।६५) इति तत्त्यागः उक्तः.

वस्तुतस्तु अत्र 'दारादि'शब्देन पुरञ्जनात्मस्वीकृतमायाबुद्धिपुत्रादिग्रहणं मूलतः तत्त्वेन निर्देशात्. तेन न लिंगविपरिणामः कार्यः. एतच्च निबन्धे पञ्चमे भागवतार्थप्रकरणटीकायां निरूपितम्. "**सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम्**" (सिद्धा.रह.२) इत्यत्र च. तथा '**इमं**'-'**परम्**' इत्यस्य प्रतिरूपम् इह 'इह'-'पर'पदम् इति आशयेन दारागारादेः पृथग् अर्पणम् इति केचिद् ऊचुः, "**इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्च आत्मनः प्रियं दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्**" (भाग.पुरा.११।३।२८) इति वाक्यात्. तथापि तत्र स्वात्मत्वाभिमतिप्रहाणपूर्वकं तदीयत्वकरणं 'समर्पण'शब्दार्थः.

(तत्र 'समर्पण'पदार्थः)

तच्च त्रिविधमेव उक्तं "**कायेन वाचा मनसा इन्द्रियेण बुद्ध्या आत्मना अनुसृतस्वभावात् करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणाय इति समर्पयेत**" (भाग.पुरा.११।२।३६) इति. अतएव '**समर्पणं**' नाम "तदीयसर्ववस्तुनः स्वसत्तानिवृत्तिपूर्वकं तत्सत्तया निवेदनम्" इति अभिप्रायेण 'हित्वा' इति मूलश्लोके उक्तम्. तत्र स्वात्मत्वादिमतिविषयकएव त्यागो न अपरो दानरूपः, तदीयत्वेन प्रसादग्रहणाभिधानात्. तथाच "**यद् वृत्त्या तुष्यते हरिः**" (भाग.पुरा.३।६।३३) इति वाक्याद् "**यो यदंशः सः तं भजेद्**" इति न्यायात् च दास्यवृत्त्या तदीयत्वम्. **दासो अहम्** इत्यस्य अर्थः. अत्र क्वचिदपि न लिंगव्यत्ययो विधेयः, जीवत्वेन निर्देशात्.

(समर्पणसम्प्रदानस्वरूपविचारः)

ततो हे सदानन्द! सखे! **तवास्मि** इति त्वदीयो अहम् अंशत्वात् च. "**श्यामसुन्दर! ते दास्यः करवाम तव उदितम्**" (भाग.पुरा.१०।२२।१५) इति भावेनेति "मां स्ववियुजं मा कुरु किन्तु सयुजं कुरु, यथा

त्वद्वियोगजनिततापक्लेशौ हित्वा आत्मधर्मं परमानन्दं प्राप्नुयाम्'' इति सूच्यते. इदं यथा तथा मया ''**भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशाद् अपेतस्य विपर्ययो अस्मृतिः**'' (भाग.पुरा.११।२।३७) इत्यत्र स्वतन्त्रे प्रपञ्चितम्. एवम्भावे मम सदानन्दएव प्रथमशरणं न अन्यः इति साधनफलरूपत्वेन भगवानेव गृह्यताम् इति श्रीभगवन्मुखोक्तितात्पर्यं भावितं श्रीवल्लभेन.

इति श्रीवल्लभाग्निदेवनामधेयकृतिमता*
निवेदितं
गद्यार्थनिरूपणम्



*इतः परम् अत्र मुद्रितम् अन्यद् नूतनपुस्तके न उपलभ्यते परन्तु तत्स्थाने एतद् लभ्यते ''इति श्रीशाचार्यपदवर्यभक्तिमता मया तत्समर्पणगद्यार्थो विवृतो अयं यथामतिः''. इत्यनेन किं द्योत्यते अस्य च विवरणस्य प्राचीनमातृकानुसारेण प्रणेतारः श्रीगोकुलनाथाः वा श्रीवल्लभाः लेखकृतो वा नवपुस्तकानुसारेण सेवाफलरीत्या अस्य कर्ता लक्ष्मणभट्टो वा तद् निश्चेतुं नैव शक्नुमः.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीकृष्णवियोगतापक्लेशानन्ददायिनी ॥

(मंगलाचरणम्)

श्रीकृष्णधामरूपे वै जीवात्मानोऽक्षरात्मका: ॥
तदंशा: स्वांशिविस्मृत्या क्षररूपे रता: सदा ॥१॥
अक्षरब्रह्मसम्बन्धे सामानाधिकरण्यता- ॥
प्रबोधो जायते यस्मिन् बीजभावोद्भवस्तत: ॥२॥
स्वरिरंसा बीजभाव: तस्मिन्नेवांकुरायते ॥
तद्वियोगतापक्लेशानुभूतिर्हि यदा भवेत् ॥३॥
तापक्लेशवारणाय रमणात्मकसेवने ॥
श्रीकृष्णेन समं जीवे दीक्षिते स्यात्स्पृहा सती ॥४॥
श्रुत्यादिसर्वशास्त्रेषु पुरापि चोदितैव सा ॥
साक्षाच्छ्रीकृष्णमुखतो निजाचार्यै: श्रुता यदा ॥५॥
तदुद्दिष्टपुष्टिमार्गे भक्त्यैकान्तप्रयोजनात् ॥
दीक्षयांगीकृता: जीवा: तमाचार्यं नमाम्यहम् ॥६॥

(उपक्रम:)

ननु किमिदम् अश्रुतपूर्वं पुरा चोदिततया प्रतिपिपादयिषितम्? किं श्रुत्यादिशास्त्रेषु यद् बहुधा निरूपितमपि केनापि अवगन्तुम् अशक्यम् आसीत् तद् आहोस्वित् शक्यत्वेऽपि तात्पर्यानवगमाद् अनवधारितमेव आसीदिति? तत्र उच्यते नाद्यो द्वितीयन्तु श्रीमद्विठ्ठलनाथैरप्यभ्युपगतमेव. तथाहि **"नहि अन्यो वागधीशात् श्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधू: अग्रत: पत्युरेव"** (श्रीवल्ल. ३)

इति. तथाहि श्रुतिः **“उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्, उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा”**(ऋक्संहि.१०।७१।४) इति न्यायेन श्रुत्यादिशास्त्रेषु चोदिता या भगवत्सेवनस्पृहा तदुद्बोधकानि तानि तानि वचनान्यपि सकृद् अवधेयानि भवन्ति इह :

> **१.“यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्” (“अग्नेरेव मूर्तिभेदेन देवत्वं च पशुत्वं च द्रष्टव्यम्... यज्ञेन=ज्ञानादियज्ञेन यज्ञं=विष्णुम् अयजन्त= पूजयन्ति”.“देवाः=प्रजापतिप्राणरूपाः यज्ञेन=यथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञेन यज्ञं=यज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त=पूजितवन्तः”).**
>
> **२.“अहं क्रतुः अहं यज्ञः स्वधा अहम् अहम् औषधं, मन्त्रो अहम् अहमेव आज्यम्, अहम् अग्निः अहं हुतम्... अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च नतु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेन अतः च्यवन्ति ते”.**
>
> **३.“यदा अस्य नाभ्याद् नलिनाद् अहम् आसम् महात्मनो नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवाद् ऋते... इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावायवैः अहम् तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैव अयजम् ईश्वरम्”.**
>
> (१.ऋक्संहि.१।१६४।५०, ऋक्संहि.सा.भा.१।-१६४।५०, शु.यजुस्संहि.मही.भा.३१।१६, २.भग.गी-ता ९।१६-२४, ३.भाग.पुरा.२।६।२२-२७).

इदम् अत्र आकूतम् : “**‘यज’=देवपूजासंगतिकरणदानेषु**” (पाणि.धा.पा.भ्वा.१०२७) इति देवपूजा-संगतिकरण-दानरूपेषु त्रिषु

अर्थेषु खलु प्रयुज्यमानो अयं धातुः इति स्थितम्. तत्र बाह्या देवपूजा यथा बाह्यैः पूजौपयिकैः द्रव्यैः शक्या ह्यनुष्ठातुं तथा आभ्यन्तरपूजा मानसद्रव्यैरपि शक्यतएव अनुष्ठातुम् इति ऋग्यजुर्भाष्यकारौ अभ्युपगच्छतः इति निर्विवादम्. दानस्य तु पुनः द्वैविध्यम् इह बोधितव्यं : [१]वैधे दाने=शास्त्रविधिम् अनुसृत्य संकल्पपूर्वकं पात्राय दीयते किञ्चिद् वस्तु. [२]व्यावहारिके तावद् दाने=शास्त्रविधिविचारं विनैव कस्मैचिद् केनचिद् श्रद्धास्नेहवात्सल्यादिभिः प्रदीयते. एतस्य व्यावहारिकस्य दानस्यापि द्वैविध्यं पुनः निवेदन-समर्पणभेदेन शास्त्रेष्वेव अनुमतं तथाहि श्रीपुरुषोत्तमेन उदाहृतं "**'शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतं, 'निवेदनं'=समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतं, 'दानं'=स्वकीयतात्यागः परस्वापदनं विधेः, 'अर्पणं'=स्वाभिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्' तथाच चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुञ्जन् अचेतनान् गृहवित्तादीन् उपयोजयन्, अन्नादीन् नैवेद्यरूपेण वस्त्रालंकारादीन् च उचितविनियोगे नियोजयन् 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलं-कारचर्चिताः उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमही' इत्युक्तरीत्या तद्दत्तप्रसादत्वेन तत्तद् उपयुञ्जीत इति स्थितिः. एषा भक्तिमार्गमर्यादा**" (सिद्धा.रह.विव.४). ताम् एतां भक्तिमार्गमर्यादाम् अनुसृत्य शरणागतः सन् स्वसर्वस्वम् आत्मना सह समर्प्य भक्त्या भक्त्यर्थं वा भगवन्तं सेवितुं स्पृहयालोः किंकर्तव्यविमूढस्य कर्तव्यबोधो साक्षाद् भगवता उपदिष्टः श्रुत्यादिसर्वशास्त्रेषु निरूपितोऽपि पुष्टिमार्गीयदीक्षारूपेण भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृता पृथक्शरणमार्गोपदेष्ट्रा श्रीकृष्णहार्दविदा अस्म-दाचार्येण वै प्रवर्तितः.

(अधिकारिविवेचना)

ननु दासवदाचरणलिंगेन एवंविधस्तु धर्मो अब्राह्मणाधिकारकएव प्रतिभाति, ब्राह्मणान् उद्दिश्य दासत्वांगीकृतेः निषिद्धत्वाद् "[१]**गृहजातः तथा [२]क्रीतो [३]लब्धो [४]दायाद् उपागतः [५]अनाकालभृतः तद्वद् [६]आधत्तः**

स्वामिना च यो [७]मोक्षितो महतश्च ऋणात् [८]प्राप्तो युद्धात् [९]पणे जितः [१०]'तवाहम्' इति उपगतः [११]प्रव्रज्यावसितः [१२]कृतः [१३]भक्तदासश्च विज्ञेयः तथैव [१४]वडवाभृतः [१५]विक्रेता च आत्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदशाः स्मृताः'' इति पञ्चदशविधदासगणनान्तरं **''वर्णानां प्रातिलोम्येन दासत्वं न विधीयते''**(नार.स्मृ.५।२४-२७) इति ब्राह्मणे दास्यनिषेधाद् अब्राह्मण-विषयता दुर्निवार्या. तदुक्तं स्मृतिचन्द्रिकाकारेण **''एवम्भूतं दासत्वं ब्राह्मणेतरेष्वेव त्रिषु वर्णेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वचित्''** (स्म.च.व्यव.का.दासनिरू.) इति.

किञ्च **''यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतो न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिं, तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इह अर्हसि''** (भग.गीता १६।२३-२४) इति भगवतापि कर्तव्याकर्तव्यनिर्धारणे शास्त्रस्यैव नियामकत्वं प्रतिपादयता शास्त्राविहिते कर्मणि अकर्तव्यतैव निर्धारितेत्यपि अब्राह्मणाधिकारको ह्ययम् उपदेशः सिद्ध्यति इति चेद्, न, पञ्चपर्वात्मिकया अविद्यया यो देहाद्यध्यासः तन्मूलकधर्मत्वाद् एतस्य तदतीतशुद्धात्मस्वरूपाधिकारकधर्माद् विभेदात् च. तस्मादेव **''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति. एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापम् अकरवम् इति'', ''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्. किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयः तथा अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्''** (तैत्ति.उप.२।९, भग.गीता ९।३२-३३) इत्यत्र भगवदानन्दशिश्रयिषा पुण्यपापचिन्ताराहित्येन सर्वाधिकारिका च इति श्रुतिगीतैकवाक्यतया प्रसिद्धा घण्टाघोषेण उद्घुष्टा. अतएव श्रीमदाचार्यचरणैरपि प्रतिपादितं **''यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा**

पुनः आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मः अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः'' (सुबो. ३।२८।२) इति.

नच भगवद्धर्मत्वे जीवाननुष्ठेयता; सत्याम् अनुष्ठेयतायां जीवधर्मत्वादेव, न एतद्धर्मस्य भगवद्धर्मता इति शंकनीयं, सच्चिदानन्दात्मकस्य भगवतो हि चिदंशरूपत्वेन जीवात्मनि भगवदनुग्रहोत्कलितानां भगवत्कर्मिकानां कृतिमतिरत्यादीनां जीवधर्मतैवेति.

नच एतद्वचनविहितत्वेनैव भगवदाश्रयपूर्वकं भगवद्भजनं सर्वेषां विहितकर्तव्यताकं भवतु इति आपादनीयम्, एतद्वचनस्य अप्राप्तप्रापकविधिवचनत्वानुपपत्तेः. तथाहि नैतस्य अपूर्वविधित्वं सम्भायितुं शक्यं विनापि विधिं सर्वस्यापि **''तस्मिन् विश्वम् इदं श्रितम्'', ''तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन''** (छान्दो.उप. ३।१५।१, कठोप. २।३।१) इत्येवमादिवचनेभ्यः वस्तुस्वभावादेव भगवदाश्रितत्वाद् वचनस्यास्य भगवदनाश्रितत्वभ्रान्तिनिवारणपरतैव उपपद्यते. नापि नियमविधित्वम् उट्टंकयितुं शक्यं **''यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहम्. स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् ईहते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्... देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ताः यान्ति मामपि'', ''येऽपि अन्यदेवता भक्ताः यजन्ते श्रद्धया अन्विता तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्ति अविधिपूर्वकम्''** (भग.गीता ७।२१-२३, ९।२३) इत्यत्र अन्यदेवताश्रयपूर्वकतद्भजनस्यापि तत्तद्देवप्रापकत्वस्य भगवतैव स्वविहितत्वेन उपगमात्. अतएव स्वयं भगवतैव **''देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं... शारीरं तप उच्यते''** (भग.गीता १७।१४) इति प्रशंसितेषु तपःसु स्वेतरदेवपूजनपरिग्रहात् परिसंख्यापि न शक्या सम्भावयितुम्.

नच कस्यचन देवस्य वा परब्रह्मणो वा आश्रयपूर्वकं भजनं न नैयत्येन तद्दासत्वाधायकमिति किं-केन सम्बध्यते! इति अधिक्षेपणीयम्, पञ्चदशविधदासभेदेषु प्रथम-सप्तम-दशमविधदास्यलक्षणानि जीवात्मस्वपि अनुगमयितुं शक्यान्येवेति.

तत्तदाश्रयपूर्वकतत्तद्देवभजनकर्तुः स्वस्वपुरुषार्थपरित्यागेन महद्भ्यो हि देवर्षिपितॄणाम् ऋणेभ्यो मोचनेन यथा दासत्वं तथा स्वस्वगेहोपमलोकेषु तत्तद्देवैः स्वप्रसादेन स्थानदानं च निजाश्रितभक्तेषु दासत्वाधायकमेव कुतो न अवधारयितुं शक्यते?. किञ्च भगवद्गीतायां "**यद् गत्वा निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**","**यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**", "**ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं कूटस्थम् अचलं ध्रुवं...ते प्राप्नुवन्ति मामेव... क्लेशो अधिकतरः तेषां... येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः... तेषाम् अहं समुद्धर्ता...**" (भग.गीता १५।६,१८,१-२।३-५) इत्येवमादिवचनैः भगवतो मुक्तामुक्तजीवात्मनोः धामैक्यनिरूपणाद् भक्तस्य च "**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मि इति याचते अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद् व्रतं मम**" (रामा.६।१८।३३) इति भगवत्प्रतिज्ञातनयेनापि प्रथम-दशमप्रकारकं दासत्वं निश्चप्रचम्. तथाहि श्रूयते :

"**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं तस्मै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये**" (श्वेता.उप.६।१८) इति श्रुत्या यः परब्रह्म परमात्मा भगवान् देवाधिदेवो स्वसृष्टिकृद्रूपाय ब्रह्मणेऽपि वेदादिबोधप्रदाता तस्य शरण्यस्य रक्षकस्य प्रपत्त्या तद्दास्यं हि सुलभो मोक्षोपायः इति आशयः.

नच **"अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते 'अन्यो असौ अन्यो अहमस्मि' इति न स वेद यथा पशुः एवं स देवानाम्"** (बृह.उप.१।४।१०) इति श्रुत्या मुमुक्षोः स्वमुमुक्षुत्वोपाधिविवर्जितो नित्यमुक्तो जीवात्मैव शरण्यतया प्रपदनीयो नान्यः कश्चन इति आशंकनीयम्, अन्यत्वाशयानवबोधात्. नहि अविद्यावच्छिन्नो वा अविद्याप्रतिबिम्बितो वा जीवात्मा ब्रह्माणं प्रति वेदोपदेष्टा भवितुं शक्नोति, ब्रह्मकृतायां सृष्टौ जातत्वादेव. नापि **"न देवाः न लोकाः न वेदाः... न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा"** (दशश्लो.३-७) इत्येवम्भूतः सर्वोपाधिविर्निमुक्तचिदात्मापि वेदोपदेशाय अलम्. तस्मात् श्रीशंकराचार्योक्तया प्रणाड्या **"सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहम्", "त्वदन्यः शरण्यः प्रपन्नस्य नास्ति... न चित्ते भवेद् भक्तवात्सल्यहानिः ततो मे दयालो सदा संनिधेहि"** (षट्प.स्तो.३, श्रीशिवभु.स्तो.१०) इत्येवंभूतया न आत्यन्तिको हि अभेदः किन्तु 'तव-अहम् अस्मि' इति जीवात्मपरमात्मनोः भेदसहिष्ण्वभेदरूपमेव तादात्म्यं समादाय पदाभिप्रायो नेतव्यः. तत्तु **"स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि"** (छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुतिप्रोक्तं जीवात्मपरमात्मनोः. ततश्च आत्यन्तिकभेदकल्पनानिषेधार्थैव सेयम् **"अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते 'अन्यो असौ अन्यो अहमस्मि' इति न स वेद यथा पशुः एवं स देवानाम्"** इति श्रुतिः नेयेति; तदुभयतादात्म्यनिषेधपरा भवितुं नैवार्हति. किञ्च देवपशुत्वोक्तेरपि समाधानं **"पशुं वेत्सि चेन् मां तमेव अधिरूढः... त्वदंगीकृताः शर्व! सर्वेऽपि धन्याः"** (श्रीशिवभु.स्तो.१२) इति न्यायेन नहि निन्देयं किन्तु स्तुतिरेव विज्ञेया!

तस्माद् 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' देवस्य विशेषणम् **"अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः, सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मा आत्मयोनिना प्रजाः**

सृज यथापूर्वं याश्च मयि अनुशेरते'' (भाग.पुरा.३।१०।४२-४३) इति रीत्या मुमुक्षुजीवात्मान्तर्यामिण: परमात्मनएव सर्वलोकशरण्यतापरपर्यायरक्ष-कताया: बोधक: इति मन्तव्यम्. ततश्च **''सर्वेषामपि भूतानां हरि: आत्मा ईश्वर: प्रिय:, भूतै: महद्भि: स्वकृतै: कृतानां जीवसंज्ञित:, देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वएव च, भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयं, न अलं द्विजत्वं देवत्वम् ऋषित्वं वा असुरात्मजा:, प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता, न दानं न तपो न इज्या न शौचं न व्रतानि च, प्रीयते अमलया भक्त्या हरि: अन्यद् विडम्बनम्''** (भाग.पुरा. ७।७।४९-५२) इति वचनाद् भगवद्विषयिका अवैधा प्रीति: वा प्रपत्ति: वा अविहितत्वेऽपि न विफला नापि शास्त्रविरुद्धा इति वेदितव्यम्. भगवत्कृपयैकलभ्यो हि ईदृशो भावो भगवति आत्मारामत्वख्यापको भवति. तदुक्तं **''नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्य: तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''** (कठोप.१।२।२३) इत्यत्र 'प्रवचन'-'तनु'पदे श्रुतिप्रवचनोपदिष्टसाधन-स्वसर्वाश्रयरूपत्वतात्पर्यके बोधितव्ये **''मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात्... न वेदयज्ञाध्ययनै: न दानै: नच क्रियाभि: न तपोभि: उग्रै:''** (भग.गीता ११।४७-४८) **''सोऽहं तव अंघ्र्युपगतो अस्मि असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रह: ईश मन्ये''** (भाग.पुरा.१०।४०।२८) इति साक्षाद् भगवन्मुखतो भक्तमुखतोऽपि स्वाभिप्रायाविष्करणात्.

तस्मात् सर्वाश्रय-सर्वप्रेष्ठ-सर्वात्मनो भगवतो ज्ञानाद् वा अज्ञानाद् वा श्रुत्यादिशास्त्रोक्तसाधनसम्पन्नस्य वा तद्रहितस्य वा भगवति शरण्यबुद्धि: भगवत्कृपयैव भवति इति सिद्धान्त:. सेयं शरणागतिरपि प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलभेदेन चतुर्विधा. नृणां नि:श्रेयसार्थायैव अवतीर्णस्य वासुदेवस्य यथा प्रमाणादिचतुर्विधरूपत्वं श्रीमदाचार्यचरणेन निरूपितं **''भगवच्छास्त्रे**

भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्... दर्शनं प्रमाणम् आविर्भावः प्रमेयम् इति" (सुबो.१०।२।३८) इत्यत्र प्रतिपादितं; तथा **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्"** (भग.गीता ४।११) इति स्वप्रतिज्ञातदिशापि सर्वभावानुकारिणि भगवति रक्षकत्वभावः प्रमाणरूपा प्रपत्तिः. **"'विवेक'स्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति... त्रिदुःखसहनं 'धैर्यम्' आमृतेः सर्वतः सदा... 'आश्रयो' अतो निरूप्यते ऐहिके पारलोके वा सर्वथा शरणं हरिः"** (वि.धै.आ.१-१०) इति विवेकधैर्याश्रयदार्ढ्ये प्रमेयाविर्भावः. **"अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनं रक्षिष्यति इति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा आत्मनैवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः"** (पञ्चश्लो.३-५) इति श्रीमदाचार्योक्तस्य भगवत्प्रपत्त्युपायानुष्ठानस्य सम्पत्तिः साधनरूपा प्रपत्तिः. फलरूपातु सेयं साक्षाद् भगवति स्वसर्वस्वसमर्पणरूपैव.

नच एषा आधुनिकेषु जीवात्मसु अशक्यैवेति अविश्वासरूपाभ्याम् असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यां मलिनीकरणीया, **"अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु स ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्मम"** (वि.धै.आ.१५) इति उपदिशता श्रीमदाचार्यचरणेन अविश्वासस्य भगवदाश्रये बाधकत्वं ब्रह्मास्त्रन्यायेन, विश्वासस्य च साधकत्वं चातकन्यायेन स्फोरितम्.

तस्याश्चैतस्याः प्रपत्तेः **"विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः... कृष्णएव गतिः मम","एवम् अधिकाराभावे भिन्नम् उपायं वक्ष्यति... प्रपत्तिमार्गम् आह 'जगन्नाथे... यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः"** (कृष्णाश्र.९, त.दी.नि.प्र. २।२५४-२५५) इत्यत्र भक्त्यनुकल्परूपतावद् **"भक्त्यभावे... अलौकिकमनःसिद्धौ... सर्वथा शरणं हरिः"** (वि.धै.आ.११-१७) इत्यत्र भक्तिभावसम्पत्त्यर्थं भक्तिभावात्मिकायाः मानस्याः सेवायाश्च सिद्ध्यर्थं हेतुतापि अभ्युपगता. भक्तिविकल्परूपतापि इहैव **"एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितं कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्या**

इति मे मतिः" (वि.धै.आ.१७) इत्यत्र प्रतिपादिता. रामानुजीयश्रीवचनभूषणकारेण प्रतिपादितायां प्रपत्तौ मार्जारीमर्कटन्याययोरपि इहैव समावेशो विभावनीयः. इति अधिकारविवेचना.

प्रसक्तानुप्रसक्त्या इदमपि अत्र अवधेयं भवति षोडशग्रन्थेषु चत्वारो ग्रन्थाः बालबोध-विवेकधैर्याश्रय-कृष्णाश्रय-पञ्चपद्यान्याख्याः एतस्याएव प्रपत्तेः प्राधान्येन उपदेशपराः वर्तन्ते.

(विषयविवेचना)

निर्वृत्ता हि अधिकारिविवेचना अथ विषयविवेचना प्रस्तूयते :

यथोक्तायाः वै भगवत्प्रपत्तेः भगवते कृष्णाय स्वात्मात्मीयसर्वस्वसमर्पणार्थकत्वेन तस्मै प्रपन्नस्य एवंविधात्मसमर्पणं क्रमानुवृत्तं समापन्नमिति तस्मै भगवते समर्पणमेव ब्रह्मसम्बन्धाख्यायाः दीक्षायाः मुख्यो विषयः.

तदेतत् समर्पणं स्वीयज्ञानेच्छाप्रयत्नजातं [क]कर्मात्मकं [क-१]सकामं [क-२]निष्कामम् इति भेदाद्द्विविधं, तैर्विनापि [ख]वस्तुस्वभावानुपाति क्वचित् [ख-१]समर्पणकर्तृस्वभावानुपाति क्वचित् पुनः [ख-२]समर्पणसम्प्रदानभूतवस्तुना स्वीयस्वरूप-बल-सौन्दर्य-प्रियत्व-प्रबोध-प्रलोभनादिभिः हठात्कारितञ्च-इति बहुविधं सम्भाव्यते. तेष्वेतेषु कतमत् प्रकारकं समर्पणं भगवन्मार्गे समभिलषणीयं भवति इति मीमांस्यते.

तत्र प्रपन्नात्मनि अधिकारिणि आद्यौ[क-१,२]तु उभावपि नानुमन्येते; तथाभूते जीवात्मनि भगवत्कामस्यैव प्रशस्तत्वाद् अभीप्सितत्वाच्च औचित्यम्. तथाहि "**धर्मार्थकामः इति यो अभिहितः त्रिवर्गः, ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता, मन्ये तदेतद् अखिलं निगमस्य, सत्यं,**

स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः... सर्वेषामपि भूतानां हरिः आत्मा ईश्वरः प्रियः... एतावानेव लोके अस्मिन् पुंसः स्वार्थः पर स्मृतः एकान्तभक्तिः गोविन्दे यत् सर्वत्र तद् ईक्षणम्'' (भाग.पुरा.७।६।२६, ७।७।४९-५५) इत्यत्र प्रह्लादोपमस्य भक्तस्य धर्मादित्रैवर्गिककामनाराहित्येन गोविन्दे परमात्मनि एकान्तभक्तेरेव भक्तस्वार्थत्वेन उपपादनात्.

तत् कुतः ? इति चेद् जीवात्मपरमात्मनोः **''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''** (भग.गीता १५।७) इति वाक्यात् साहजिकएव तावद् अंशांशिभावइति. सति तु अंशिज्ञाने अतदर्थताबोधस्य असम्भवेन इतरार्थताबोधस्यैव दुर्घटत्वात् कृतम् अन्यकामनयेति. भक्तिर्हि आत्मसमर्पणोद्बुद्धा आत्मसमर्पणात्मिका आत्मात्मीयनिखिलानां भगवते कृष्णाय तत्सेवायां विनियोगात्मिका चेति **''यो यदंशः स तं भजेद्''** इति मति-रति-कृत्यात्मिका.

जीवात्मनः परमात्मनि स्वांशिताबोधप्रयुक्तं [ख-१]वस्तुस्वभावानुपाति साहजिकं समर्पितत्वमिव [ख-२]समर्पणसम्प्रदानभूतस्य स्वरूपसौन्दर्यप्रियत्वाद्यसाधारणधर्मैः स्नेहात्मकहठादिव कारितं यथा श्रीमधुसूदनसरस्वती जगाद **''अद्वैतवीथिपथिकैः उपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृताः''** इत्येतस्य अखिलस्य हेतुः श्रूयते स्म बृहदारण्यकोपनिषदि :

> [१]**''यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'',**
>
> [२]**''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'',**

[3]"अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु अस्य आत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु... अयम् आत्मा इदम् अमृतम् इदं ब्रह्म इदं सर्वम्",

"सवा अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः... तद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवम् अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वेएव एते आत्मानः समर्पिताः",

(बृह.उप. [1]२।१।२० [2]२।४।५ [3]२।५।१४ [4]२।५।१५)

इत्यत्र सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मण्येव व्युच्चरणापादानाधिकरणत्वे, सर्वस्य वस्तुजातस्य परमात्मनि निरतिशयप्रेमवत्त्वं, सर्वस्य वस्तुजातस्य तस्य मधुत्वं, सर्वस्मिन् वस्तुजाते तदाधिपत्यं, बाह्याभ्यन्तरभेदेन स्वस्मिन् समर्पितस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य सहजाश्रयत्वं चेति. सर्वस्य एतस्य निरूपणाद् भगवतः सर्वाश्रयत्वं स्वतःसिद्धतया श्रुतिविवक्षितमेव. ननु एवं सति भक्तिसमर्पणयोः कर्तव्यताकत्वाभावात् स्वतःसिद्धत्वं चेत् तर्हि कृतं हि एतदात्मसमर्पणदीक्षाप्रदानगृहणाभ्याम् इति चेद् न, निमित्तमात्रं भवितुं शक्यत्वाद् यथोदितं भगवता गीतायां **"मयैव एते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"** (भग.गीता ११।३३) इति.

तस्माद् भगवत्प्रपत्त्युत्तरं भगवत्सपर्याभक्तिभ्यां प्राक् च समर्पणस्य अनन्यसाधारणं भगवत्पुष्ट्यनुभावोद्बोधने महत्त्वं लक्ष्यीकृत्य षोडशग्रन्थेषु समर्पणोपदेशपरेषु चतुःषु ग्रन्थेषु सिद्धान्तरहस्यं नवरत्नम् अन्तःकरणप्रबोधः निरोधलक्षणम् इति विशेषतराभिधानानि श्रीमदाचार्यचरणेन कृतानि दृग्गोचरीभवन्ति. तस्मात् सकामप्रपत्ति-सकामात्मसमर्पणे भगवत्स्वरूपानभिज्ञानामेव सम्भवतः प्रवाहमार्गपतितानां विविधजीवानाम् इति रहस्यम्. द्वितीयौ[ख-१,२]तु उभावपि इतरेतरसापेक्षौ हेतुहेतुमद्भावेन इतरेतरोद्बोधकौ

इतरेतरस्वरूपनिर्वाहकौ च आस्थेयौ.

किञ्च श्रीमदाचार्यचरणानां निजहस्ताक्षरेण लिखिते पत्रे आत्मनिवेदनमन्त्रस्य आदौ प्रपत्तिदीक्षारूपो हि **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** इतिवत् आत्मसमर्पणांगभूतोऽपि **"दासोऽहं कृष्ण तवास्मि"** इति द्वौ अष्टाक्षरमन्त्रौ विराजेते. जपार्थे तु पञ्चाक्षरमन्त्रोपादानमेव प्राचां ग्रन्थेषु उपदिष्टम् इति अन्या कथा. अत्र 'दासोऽहम्' इत्यादीनि अष्टाक्षराणि प्रपन्नताभावानुवृत्तिपूर्वकात्मसमर्पणनिवेदनपराण्येव ज्ञेयानि. यथा श्रीरामानुजवेदान्तदेशिको अदर्शि **"स्वनिर्भरत्वपर्यन्तरक्षकैकार्थ्यभावनं, त्यक्तरक्षाफलस्वाम्यं रक्ष्यस्य आत्मसमर्पणम्"** (निक्षेपरक्षा) इति. इह पुष्टिमार्गे रक्षणन्तु स्वीयजीवस्य भगवद्दास्यभावरक्षणएव पर्यवसास्यति नान्यत्र.

तदंशत्वाद् आश्रितत्वं दासत्वञ्चाश्रयाद् मतम्।
दास्यं भक्तिसपर्याभ्याम् इत्येषो ह्यर्थसंग्रहः॥

अथ आत्मनिवेदनगद्यन्तु :

१."सहस्र-परिवत्सर-मितकाल-जात-कृष्ण-वियोग-जनित-तापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं सेव्यसेवकता

२.भगवते कृष्णाय भजनीयभक्तता

३.देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागार-पुत्राप्त-वित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि समर्पणसम्प्रदानकर्तृता

इत्येवम्भूते मन्त्रेऽस्मिन् [१]प्रथमो गद्यांशः समर्पणकर्तरि छान्दोग्योपनिषत्तद्व्याख्यारूपभागवतोक्तदिशा **"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः", "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमही"** (छान्दो.उप.७।२६।२,

भाग.पुरा.११।६।४६) इति पुरुषोत्तमधामरूपे अक्षरब्रह्मणि सृष्टिव्युच्चरणोत्तरकालिको यो जीवात्मनि आनन्दांशतिरोभावः तत्कृतश्च पञ्चपर्वाध्यासजननहेतुभूतया भगवच्छक्त्यविद्यया सम्पर्कः तदात्वे च स्वस्वरूपलीलानन्दानुभवौपयिकवरणरूपो यो बीजभावः तत्प्रत्यभिज्ञारूपं स्मारणं मन्तव्यम्. तत्स्थैर्यन्तु पुनः तच्चिदंशानां स्वस्वगेहे विराजमानस्य सच्चिदानन्दांशिरूपस्य भगवद्विग्रहस्य स्वतनुवित्तजायां सेवायां स्वसमर्पितवस्तूनामेव उपयोगे सति सम्भवति नान्यथा.

अतएव एतादृशोः सेव्यस्य भगवत्स्वरूपस्य वियोगे जायमानौ तापक्लेशौ तत्सेवालाभरूपसंयोगे जायमानश्च आनन्दोऽपि भगवत्सेवानवसरावसराभ्यां भगवद्भक्तनां भक्तिस्वभावानुरोधादेव भवन्ति. एते तापक्लेशानन्दाः यथा परमकाष्ठापन्नेन पुष्टिभक्तेन वृत्रेण; तथैव पुष्टिमार्गे भगवदितरवैराग्यवृत्तौ गुरुकल्पैः गोपीजनैश्च अनुभूताः, यथा पुनः. व्रजांगनाभावपूरिताखिलस्वीयांगेन प्रभुचरणेनापि भगवते निवेदिताः तथाहि :

"अजातपक्षाइव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्",

"अटति यद् भवान् अह्नि काननं त्रुटि युगायते त्वाम् अपश्यतां कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जडः उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्",

"त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं यद् अस्ति मे, तदेव फलम् आत्मीयशास्त्रतः प्रमिणोमि अहं, तथापि मन्नेत्रवपुःप्रभृतीनां व्रजाधिप! साक्षात् त्वयि उपभोगं मे मनः कामयतेतराम्".

(भाग.पुरा.६।११।२६, १०।२८।१५, विज्ञ.१।४४-४५).

ततश्च षोडशग्रन्थान्तर्गतेषु सिद्धान्तमुक्तावली-पुष्टिप्रवाहमर्यादा-संन्यासनिर्णय-सेवाफलग्रन्थेष्वपि एवमेव अनुवर्णितम् :

१.‘‘स्वसिद्धान्तविनिश्चयं = कृष्णसेवा सदा कार्या’’,
२.‘‘तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयो भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः न अन्यथा भवेत्’’,
३.‘‘हरिः अत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतो अपरे... ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति, आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति’’,
४.‘‘यादृशी(स्वीयगेहस्थभगवद्विग्रहे स्वतनुवित्तजा) सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ (मानसीकक्षारोहणे व्यसनदशालाभे वा) फलम् (अलौकिकसामर्थ्यरूपम्) उच्यते अलौकिकस्य दानेन च आद्यः(ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वम् एतावता न दुर्लभतमा रतिः भवति वै मुकुन्दप्रिये !) सिद्ध्येद् मनोरथः’’.
(१.सिद्धा.मुक्ता.१, २.पु.प्र.म.१२, ३.संन्या.नि-र्ण.१९-२०, से.फ.१-२).

इत्थम् एतेषु ग्रन्थेषु सेव्यसेवासेवकविषये उपदिदिक्षितानाम् एतेषां भावानाम् इह आत्मनिवेदनाद्यगद्यांशएव मूलम्.

[२]द्वितीयगद्यांशे भगवद्भक्तात्मनोः भक्त्यात्मकसम्बन्धो द्योतितः. तेन षोडशग्रन्थेषु भक्तिनिरूपकाणां श्रीयमुनाष्टक-चतुश्श्लोकी-भक्तिवर्धिनी-जलभेदग्रन्थानां मूलम् इहैव अवगन्तव्यम्.

किञ्च **‘‘भज’ = सेवायाम्’’**(पाणि.धा.पा.भ्वादि.१०२३) इति धातोः कर्मणि भज्यते=सेव्यते अनेन हेतुना **‘‘पुंसि संज्ञायाम्’’** (पाणि.सू.३।३।११८) **‘‘चजो’’** (पाणि.सू.७।३।५२) इति जस्य ‘गः’कृते

'भग:'शब्दो व्युत्पद्यते. तद्वान्=भगवानिति "**युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः स्वएव धामन् रममाण ईश्वरः**" (भाग.पुरा.२।९।१६) इति वाक्याद् ध्रुवैः भगैः=ऐश्वर्यादिभिः दिव्यैः गुणैः कृता या लीला तया विशिष्टो भगवान् व्रजाधिपः कृष्णो भजनीयो येन भक्तगृहस्यैव भगवच्छाश्वल्लीलाधामरूपाक्षरब्रह्मतासम्पत्तिः. एतेन **भगवते कृष्णाय** इति "**तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या**" (पाणि.सू.वा.१४५८) इति चतुर्थ्याक्षिप्तो तदर्पितात्मा तत्सापेक्षो जीवोऽपि तद्भक्ततया अर्थाक्षिप्तएव. तद् उक्तं "**पुष्टिः स्वार्था (जीवहितकरी) परार्था (भगवत्कार्योपयोगिनी) तु भक्तिः**" (त.दी.नि.३।६।१३) इति श्रीमदाचार्यचरणेन. भजते इति कर्तरि व्युत्पत्त्या बोधितः भक्तोऽपि तत्सापेक्षतया विवक्षितइति पूर्वोक्तेषु षोडशग्रन्थेषु स्थितम्.

ननु "**आशु भक्ताः भवन्त्येव परमेश्वरसेवया 'भज'इत्येष धातुः वै सेवायां परिकीर्तितः तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता 'भक्ति'शब्देन भूयसी**" (लिंगपुरा.२।९।१९-२०) इति वचनात् सेवैव भक्तिरिति किम्मूलम् एतादृक् पार्थक्यम्? इति चेद् न, सर्वनिर्णयनिबन्ध-भक्तिवर्धनीग्रन्थयोः "**बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतं नाम्नि चैकं ततः त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः**","**बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा**" (त.दी.नि.प्र.२।२५४, भ.व.२-३) इत्येवं प्रतिपादयता श्रीमदाचार्यचरणेनैव सेवाभक्त्योः पार्थक्यं न नांगीकृतम्.

[३]तृतीयो गद्यांशस्तु कण्ठतः अहन्तान्तर्गतममतास्पदानां देहादीनां केवलममतास्पदानां स्वदारागारादीनां स्वात्मना सह भगवते समर्पणनिरूपकः **समर्पयामि** इति क्रियापदोपन्यासात् षोडशग्रन्थान्तर्गतेषु प्राधान्येन समर्पणोपदेशपरेषु सिद्धान्तरहस्य-नवरत्न-अन्तःकरणप्रबोध-निरोधलक्षणाख्येषु एतन्मूलकत्वं विद्योतितं भवति.

एतत्स्वरूपन्तु व्याख्यातप्राय:. तथापि यदिदं भगवत्सेवाधिकारसम्पादकं तत्तु यथा प्रभुचरणै: सुनिपुणं प्रतिपादितं :

"आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हा: नेतरे. तत्र चैहिकपारलौकिकयो: नावशिष्टं किञ्चिद् असमर्पितम्... 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्, एवंधर्मै: मनुष्याणाम्, उद्धव!, आत्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति: को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते' इत्यादिवाक्यै: तद् आवश्यकं साक्षात् श्रीगोकुलेभजनाधि-काररूपत्वाद्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशवद्. निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थम् आवश्यकव्यवहा-रार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोग: कार्य:... अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने अन्यथा निवेदितान्नादे: भोजनं न स्यात्. अनिवेदितस्य निषिद्धत्वाद् निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृति: उचिततरा दासधर्मत्वाद् 'उच्छिष्टभोजिनो दासा:' इत्यादिवाक्यै: आत्मशोधकत्वाच्च... स्वात्मना सह यावन्तो निवेदिता: तै: सहैव स्वस्य अंगीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो नतु प्राधान्यात् स्वस्यैव... कदाचित् प्रवाहवशाद् लौकिके वैदिके आश्रमादौ वा स्थितौ तत्र विघ्नएव भवति. नतु तत्फलम् इति अर्थ:. तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत: इति भाव:. पुष्टिमार्गांगीकारे मर्यादां न सहते इति ज्ञेयम्. एवं सति किं कार्यम् इति आकांक्षायाम् आहु: साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत... गुर्वाज्ञाया: अबाधनं यथा भवति तथा सेवाकृति: पूर्वम् अपेक्षिता. एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेद् गुर्वाज्ञाविरुद्धा भवेत् तदा तथा कार्यम्. एवं सति गुर्वाज्ञाया: अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या

यतो... यस्माद् उक्तरीत्या स्वतः सर्वम् अशक्यम् अतः सर्वात्मना शरणगतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्. भक्तिमार्गीयान् सर्वान् अंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति तदा सर्वात्मना तथा (शरणभाव-दार्ढ्र्यम्) भवति. अन्यथा कालेन आसुरधर्म-प्रवेशः स्यात्. अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभावे वा तथा (अष्टाक्षरमन्त्र)वदनम् आवश्यकम्''.

(नव.प्रका.१-९)

इति नवरत्नग्रन्थप्रकाशएव निवेदनगद्यतात्पर्यप्रकाशकः इति पुष्टिमार्गीयैः भाग्यवद्भिः विभावनीयम्.

(सम्बन्धविवेचना)

सम्बन्धस्तु दीक्षामन्त्रो अयम् अविद्यात्मकपञ्चपर्वजन्यानां सहजादिपञ्चविधानां दोषाणां प्रतिबन्धकतायाः निवारणेन उद्बोध्यस्य पुष्टिभक्त्यर्थं भगवत्कृतवरणरूपस्य बीजभावस्य उद्बोधकः इति उद्बोध्योद्बोधकतारूपो अवसेयः.

तथाच प्रतिपादितं सिद्धान्तरहस्यके ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणेन :

''श्रावणस्य अमले पक्षे एकादश्यां महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तद् अक्षरशः उच्यते : ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः हि. दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः : [१]सहजाः [२-३]देशकालोत्थाः, लोकवेदनिरूपिताः, [४]संयोगजाः [५]स्पर्शजाः च न मन्तव्याः कथञ्चन. अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन. असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेद्. निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः. न मतं

देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्. तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्. दत्तापहारवचनं तथाच 'सकलं हरेः न ग्राह्यम्' इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्. सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः गंगात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वेन निरूप्या स्याद् तद्वद् अत्रापि चैव हि".

(सिद्धान्तरहस्यम्)

एवं हि आत्मनिवेदनदीक्षायाः अधिकरणसिद्धान्तस्य एतद्धि एव रहस्यं यद् अस्मिन् ग्रन्थे भगवतोऽपि अक्षरशः प्रतिपिपादयिषितं तत्तु स्वस्मै=तस्मै भगवते कृष्णाय समर्पणं पुष्टिजीवानां कृते आत्मधर्मरूपम् इति. तच्च सर्वातिशयिततया न केवलं साधनकक्षायां प्रारम्भे किमुत फलदशायामपि भक्तेः अनुवृत्त्या राराजते. अतो व्यसनदशातः सर्वात्मभावापत्तिदशायामपि नितान्तं स्पृहणीयतममिति महद्विमृग्यं खलु एतत्.

तथाहि गद्यमन्त्रे तावद् आत्मनिवेदनात्मकमेव समर्पणं वाचिकम्. निरोधलक्षणग्रन्थेतु भगवत्सेवायां देहेन्द्रिय-दारागारादिसमर्पणं साधनात्मकं वर्णयता—

"हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि, दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा, श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः, पायोः मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्. यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः. नातः परतरो मन्त्रः नातः परतरः स्तवः नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्."

(नि.ल.१७-२०).

इत्येवं सर्वेषां देहेन्द्रिय-दारागारादीनां भगवति विनियोगात्मना फलितात् समर्पणाद्धि खलु एतस्मात् श्रैष्ठ्यम् इतरेषु नैकविधसाधनेषु निराकृतम्.

तस्यैतस्यैव भगवद्भक्त्यंगभावेतु **"योहि मुच्यते स संघातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते, ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति. तस्य स्वरूपानन्दः स्वरूपेण वा आनन्दानुभवः. स्वतन्त्रभक्तानान्तु गोपिकादितुल्यानां सर्वैन्द्रियैः तथाच अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः. अतो भगवद्भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितो गृहाश्रमएव विशिष्यते"** (त.दी.नि.प्र.१-।५१) इति वचनं प्रमाणम्. तदिह भक्तानां स्वातन्त्र्यन्तु **"कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिः उच्यते"** (त.दी.नि.३।५।२६) इति ख्यापितम्. तथाहि भगवतः कृष्णस्य क्रियमाणायां लीलायां विविधभावापत्तीच्छया स्वचिदंशानां जीवात्मनां पुष्टिमर्यादाप्रवहादिरूपतातु कृष्णलीलेच्छाधीनैव तेनैतेन भगवदाधीन्येन पुष्टिजीवानां सेव्यमानस्य भगवद्विग्रहस्य भक्तभावाधीनस्वरूपानुभावो हि तादृशां भक्तानां स्वाधीन्यम् इति आशयः. तदेतन्मार्गीयभक्तानां स्वगृहएव भगवत्सेवापराणां कृते भाष्यकारेण उपदिष्टं **"केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तयैव निर्वृत्त्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते"**(अणुभा.३।४।४७) इति. वस्तुतस्तु पुष्टिबीजभाववतां कृतेएव भगवतो भक्ताधीन्यं नतु लाभपूजार्थं स्वसेव्यस्य जनतासु प्रदर्शनपराणां कृते इति नूनम् अवगन्तव्यम्.

एतादृश्याः भक्तेः गुणगानं किंगुणवत्याः तस्याः ? इति मीमांसिते स्वस्वीयसमर्पणगुणवती हि भक्तिः जीवन्मुक्तेरपि श्रेष्ठतरा नतु समर्पणरहिता :

> **"सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपा आनन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि अतएव अनिच्छा. अतएव**

अन्तःकरणेन्द्रियाणां च तैः आकर्षणं सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात् च. स भगवान् स्वगृहे गच्छन् तानपि नयति ते इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति. भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी... अतिसूक्ष्म-मेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति."

"देहभावे दृढे तु स्याद् भक्तानां कृष्णदासता सायुज्यं वा अन्यथा तस्मिन्".

(सुबो.३।२५।३६, त.दी.नि.३।९।७०)

यस्मात् सर्वेन्द्रिय-तद्विषयादीनां स्वस्वीयनिखिलानां भगवते समर्पणाभावे भगवान् सायुज्यमपि प्रददाति इति सेवाफलग्रन्थेऽपि निरूपितमेव. एतस्मादेव हेतोः वेणुगीतसुबोधिन्याम् ;

"'अक्ष्ण्वताम्'=इन्द्रियवतां चक्षुष्मतां वा 'इदम्'= स्वहृदये मनोरथप्रकारेण प्रतिभातं : भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ... इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा यथा अन्धकारे नियता स्थितिः न अक्ष्णोः फलं भवेद् एवं मोक्षोऽपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि. बाधकानां परित्यागे (सर्वेन्द्रियाणां भगवति विनियोगरूपाणां) साधकानां न तद् (मोक्षो) न भवेद्. तद् आह 'न परं विदामः' इति 'परो' मोक्षो सायुज्यादिः. ननु 'आत्मलाभाद् न परं विद्यते' इति श्रुतेः कथं न परस्य पुरुषार्थत्वम्? तद् आहुः 'विदामः'इति वयमपि उपनिषद्रूपाः अतो वयमेव जानीमः. नहि अनुभवविरुद्धम् अनुभवापर्यवसायि फलं श्रुत्युक्तं भवति".

(सुबो.१०।१८।७) इति.

नूनम् एतन्निरूपणेन भगवदर्थे फलात्मकं यत् सर्वेन्द्रियसमर्पणं तत्प्रतिपादनपरतया भवितव्यम्. एतावता सिद्धं :

क्रीडार्थसृष्टौ सञ्जाताः पुष्टिजीवास्तदर्थकाः।
स्वाहंममाभ्यां हरये ह्यर्पिताः सार्थकाः ध्रुवाः॥

(प्रयोजनविवेचना)

अथ एतस्याः आत्मनिवेदनदीक्षायाः प्रयोजनविविचिकित्सायां 'ब्रह्मसम्बन्ध'इति नामाभिधानेन स्वस्य कृतौ मतौ आहोस्विद् रतौ वापि ब्रह्मणो निराकरणं ब्रह्मांशभूतैः जीवात्मभिः तत्त्वतः कर्तुं यद्यपि दुःशकमपि मायामोहवशात्तु सर्वसुलभमेव आभासते. यथाच निरूप्यते गीतायां "**त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगद् मोहितं नाभिजानाति माम एभ्यः परम् अव्ययं दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते**" (भग.गीता ७।१३-१४) इति. तस्माद् भगवत्प्रपत्तिस्तावद् मायामोहकृताहन्ताप्रशमनाय अलमपि तदहन्ताजनितममतामोहनिवारणम् ऋते देहेन्द्रियान्तःकरणतद्धर्माणां तद्द्वारकदृढममतास्पदानां दारागारपुत्रादीनां च भगवते समर्पणं सुशकं न भवति. तद्विना च तत्त्वबोधो वा प्रेष्ठे च तत्त्वे प्रियतमत्वप्रत्यभिज्ञानं वापि दुष्करमिति एतस्याः दीक्षायाः अपरिहार्यता ब्रह्मानिराचिकीर्षोः कृते. तदेव अभिलषितव्यम् "**आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद् अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणम् मे अस्तु**" (छान्दो.उप.मंग.१।१।१). अन्यथा निराकृते तु ब्रह्मणि "**इह चेद् अवेदिद् अथ सत्यम् अस्ति न चेद् इह अवेदीद् महती विनष्टिः**" (केनोप.२।१३).

ननु कथंकारा हि इयं विनष्टिः? यावता स्वयं भगवानेव "**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये यततामपि सिद्धानां कश्चिद्**

मां वेत्ति तत्त्वतः भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा. अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो! यया इदं धार्यते जगत्'' (भग.गीता ७।३-५) इति वदति निरतिशयदौर्लभ्यम् अस्याः वित्तेः? नहि दुर्लभस्य वस्तुनो वित्त्यभावे जन्तुः विनाशम् आप्नुवन् दृष्टिपथम् आयाति. अन्यथा सृष्टावस्यां सर्वे ब्रह्मविदएव भवेयुः! इति आशंकायां समाधीयते यथा ब्रह्मवित्तिः न सर्वसाधारणा तथा इयं विनष्टिरपि न सर्वजन्तुसाधारणेति श्रीमद्भागवते तन्निबन्धे च प्रतिपादितम् :

''सृष्ट्वा पुराणि विविधानि अजया आत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैः अतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदम् आप देव॥
लब्ध्वा सुदुर्लभम् इदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यम् अर्थदम् अनित्यमपि इह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेद् अनुमृत्यु यावद्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्''॥
''सर्वेषान्तु फलं मोक्षो जीवतां हरिणा सह।
लीलया परमं सौख्यं ततो भक्तिः इह उच्यते''॥
(भाग.पुरा.११।९।२८-२९, त.दी.नि.३।९।११).

अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धेन भगवन्मार्गे तमस्तिरस्कारं कुर्वता श्रीमदाचार्यचरणेन :

''स्वभावप्रकृत्यपेक्षया अधिकं विहितम् अलौकिकं ये कुर्वन्ति ते सात्त्विकाः तत्रापि भगवत्सेवकाः सेवापराः, तत्रापि ये निष्कामाः तएव मुक्तौ अधिकारिणः तत्रापि ईश्वरेच्छया अन्तिमजन्मनि जाताः = शरीरं गृहीतवन्तः **तेषां**

यथा अन्तिमत्वं सिद्ध्यति तथा उपायो निरूप्यते... 'कृष्ण' पदेन च बहिर्भजनमेव मुख्यम् इति निरूपितं 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति तु ज्ञानमार्गे... क्रियाशक्तेः इन्द्रियाणां च वैफल्यं ज्ञानमार्गे तस्माद् भक्तिमार्गानुसारेण कृष्णएव सर्वेषां सेव्यः इति निरूपितम्."

(त.दी.नि.प्र.२।१४)

तेनैतेन ब्रह्मसम्बन्धदीक्षायाअपि प्रयोजनम् अधिकरणसिद्धान्तसंगत्या अनुमातुं शक्यतएव. सर्वस्यैतस्य समुपोद्बलनायैव उत्तरत्र सर्वनिर्णयेऽपि "**धर्ममार्गं परित्यज्य**" इत्यारभ्य "**एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्याद् न संशयः**" (त.दी.नि.प्र.२।२११-३३४) सविस्तरं प्रतिपादितमिति अलमिह बहुपल्लवितेन.

नयनाह्लादकः श्यामसुन्दरो गोपबालकः॥
व्रजस्थानां प्रियधनं गेहकोशे स्थितं मम॥१॥
न सेवकत्वाय योग्योऽहं तद्भक्तेस्तु का कथा!॥
तथाप्यर्पणदीक्षातः प्रपन्नत्वं ध्रुवं मम॥२॥
श्रीमदाचार्यकृपया तत्सूत्वोरप्यनुग्रहाद्॥
गद्यमन्त्रस्य व्याख्येयं यथामति कृता मया॥३॥
कार्तिकस्यासिते पक्षे सप्तम्यां रविवासरे॥
निध्यर्षिद्यौनेत्रमिते व्याख्याब्दे पूरिताऽभवत्॥४॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
श्रीकृष्णवियोग-तापक्लेशानन्ददायिनी
गद्यमन्त्रव्याख्या पूर्णताम्
अगात्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमललेभ्यो नमः ॥

॥निवेदन-समर्पण-विनियोग-विवेकः ॥

नमामि श्रीमदाचार्यान् कृष्णसेवोपदेशकान्॥
ब्रह्मसम्बन्धतः पुष्टिसृष्टिसार्थक्यवर्त्मकान्॥१॥
षोडशे स्वीयसिद्धान्तरहस्याख्ये निरूपितम्॥
निवेदनं चार्पणञ्च विनियोगश्च द्योतितः॥२॥
गुरुणोच्चारितो गद्यभागोऽनूच्चारितो पुनः॥
तुलसीदलमादाय स्वाञ्जलौहि निवेदिभिः॥३॥
निवेदनतयाख्यातो पुष्टिदीक्षाविधौ हि नः॥
सर्वेषां हि स्वस्वीयानां कृष्णसेवार्थसंग्रहः॥४॥
साक्षात्परम्पराभेदाद् न त्यागः सत्यबाधके॥
निवेदिभिः समर्प्यैवेत्यादावेतन्निरूपितम्॥५॥
हर्यर्पणे पञ्चदोषनिवृत्तिः हरिचोदिता॥
देशजः कालजः सहजस्संयोगजः स्पर्शजः॥६॥
निवृत्त्यावानिवृत्त्या वा सेवायां नहि बाधकाः॥
यद्यपि लोकशास्त्राभ्यां बाधकत्वं ह्युदीरितम्॥७॥
अथार्पणन्तु केषां चेद् निबन्धे विनिरूपितम्॥
शास्त्रोक्तेः स्वप्रकाशे हि तच्चापीहावधार्यताम्॥८॥
यद्यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः॥
येन स्यान्निर्वृतिस्तस्य विनियोगः समर्पिते॥९॥
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थे तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः॥१०॥
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥

कृष्णार्थे तद् नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ॥११॥
गद्यभागोक्तवित्तादेः दारादेश्चोपलक्षकम् ॥
प्रयोगश्च नियोगश्च जडजीवविभागशः ॥१२॥
जडेषु हरिसेवार्थं योग्यस्येह प्रयोगतः ॥
जीवेषु भावमालोच्य सेवायां वै नियोज्यता ॥१३॥
प्रयोगश्च नियोगश्च विनियोगाय वांछितौ ॥
विवेको ह्येतयोश्चास्ते सामिभुक्तासमर्पणम् ॥१४॥
सकृदुपभोगत्याज्यान्नपुष्पादेरप्रयोगतः ॥
अत्याज्यभूमिभवनभार्यादिः नास्ति तत् तथा ॥१५॥
आपणाद् गेहभाण्डाराद् अंशेनोद्ग्रहणे सति ॥
संकल्पिते विनियोगे कृष्णाद् अन्यत्र योजने ॥१६॥
स्यात्सामिभुक्तता युक्ता तदंशे नैवचांशिनी ॥
सकृदुपभोगत्याज्यत्वं तत्र मन्तुं न शक्यते ॥१७॥
गृहात्मभार्यापुत्रादेर्भूम्यादेस्तु धनस्य च ॥
भोगेऽपि त्याज्यत्वाभावाद् नैवास्ति सामिभुक्तता ॥१८॥
साक्षाद् वेतरथा तेषां विनियोगे प्रसादता ॥
स्वभोगाय प्रशस्ता वै तद्भक्तेर्वृद्धिकारिणी ॥१९॥
सेवकत्वस्य दार्ढ्याय रीतिरेषा सदोत्तमा ॥
अहंममात्मिका बुद्धिः ब्रह्मबुद्ध्या प्रशाम्यति ॥२०॥
गंगात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिकल्पना ॥
गंगात्वे न निरूप्या स्याद् इत्यादौ प्रतिपादिता ॥२१॥
नामरूपकर्मता या मायारहितब्रह्मणः ॥
सात्त्विक्या ममतामत्या ब्रह्मतादात्म्यभावना ॥२२॥
तादृङ्माहात्म्यज्ञानेन स्वसेव्ये ममतामतिः ॥
सैव प्रवणता चेतो भगवद्भावभावनाम् ॥२३॥
करोति सुदृढां येन सेवा भक्त्यात्मिका भवेत् ॥

सिद्धान्तस्य रहस्यं वै मन्तव्यं पुष्टिसेवकैः ॥२४॥
पूर्णानन्दस्य जिज्ञासासमाधानाय निर्मितः ॥
विवेकोऽयं तु सेवायां पूर्णानन्दोपलब्धये ॥२५॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः
निवेदन-समर्पण-विनियोग-विवेकः
सम्पूर्णः

॥ त्यागदानार्पणसमर्पणैर्विनियोगविवेकः ॥

(मंगलाचरणम्)

सर्वस्वात्मसमर्पणात्मभजनात् संसारितादूषितान् ॥
श्रीकृष्णगृहसेवनेन बहुशः पुष्ट्या परप्राप्तये ॥
योग्याञ्जीवाँश्चकार परहितनिरतः पुष्टिभक्तिप्रदायी ॥
श्रीमद्वल्लभसद्गुरुर्विजयते आचार्यचूडामणिः ॥१॥

(उपक्रमः)

परप्रेरितकर्तुर्यो विनियोगोऽपरत्रहि ॥
उत्सर्गतो नियोज्यस्यानियोज्यस्य प्रयुक्तता ॥२॥
ज्ञानेच्छायत्नवानत्र नियोज्यो भवितुं क्षमः ॥
तद्विहीनस्य स्वामीच्छादेरन्यत्र प्रयुक्तता ॥३॥
अतएवोक्तमाचार्यैः स्वीये सर्वविनिर्णये ॥
जडजीवप्रभेदेन प्रयोज्यविनियोज्यते ॥४॥
"गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते ॥
कृष्णार्थे तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः" ॥५॥
भार्यादिपरिवारस्य संसारे या नियोज्यता ॥
सा चेत् श्रीकृष्णसेवायां संसारो भजनायते ॥६॥

"धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थे तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः"॥७॥
कृष्णसेवाप्रयुक्तस्य धनस्यास्ति विशेषता॥
ममता यानर्थरूपा भक्तौ स्याद् भगवत्परा॥८॥
भगवद्भक्तयोरंशांशिनोः वै सहजैव सा॥
ममता नातोऽनर्थरूपा भवितुं शक्यते क्वचित्॥९॥

(विनियोगद्वैविध्यम्)

एकस्य वस्तुनस्त्वत्र विनियोगोऽपरत्र वै॥
स्वत्वस्वरूपलोपाभ्यां द्वेधा भवितुमर्हति॥१०॥
यथाग्नौ स्वस्य हव्यादेराहुती रूपलोपिका॥
शिष्टस्य स्वोपभोगे हि यज्ञशिष्टाशिस्तुत्यता॥११॥
नेदं ममाग्नये स्वाहा शिष्टांशे स्वत्वकीर्तनम्॥
युद्धेऽपि राज्ञः सैन्यस्य प्राणनाशाद् जयः स्वकः॥१२॥

(त्यागदानविवेकः)

स्वत्वलोपो द्विधा शक्यः त्यागदानप्रभेदतः॥
परस्वत्वोत्पत्तिहीनं त्यागे स्वत्वप्रहापणम्॥१३॥
परस्वत्वोत्पत्तये यत् स्वीयस्वत्वनिराकृतिः॥
दानं तत् स्मर्यते तस्य द्वैविध्यं परिकीर्तितम्॥१४॥
सकलांशाभ्यां स्वत्वहान्यान्यस्मै यत् प्रदीयते॥
भूमिस्वर्णादिदानं तत् स्वस्वत्वसकलक्षतेः॥१५॥
विभज्यांशेन दानन्तु संविभागे सुतादिषु॥
सम्पदो जीवता पित्रा ह्यंशेन स्वत्वहापनम्॥१६॥

(अर्पण-समर्पणविवेकः)

स्वत्वात्यागेन यत्स्वस्य परस्मै विनियोजनम्॥

तदर्पणं भवेत् तत्र माहात्म्यात् स्यात् समर्पणम्॥१७॥
गेहेऽभ्यागतसौख्याय स्वीयवस्त्वर्पणन्तु यत्॥
गृहिणोरतिथिदेवे न तत् स्वत्वहापनात्॥१८॥
स्वस्वत्वस्याराध्यमूर्तिस्वत्वेन्तर्भावनं तु यत्॥
ब्रह्मसम्बन्धदीक्षायां तत्स्वस्वत्वाविलोपनात्॥१९॥
अतएवहि सिद्धान्तरहस्ये ह्येतदुच्यते॥
"निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः॥२०॥
असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत"॥

(प्रसक्तानुप्रसक्तस्वत्वविवेकः)

स्वत्वं चतुर्विधं प्रोक्तं व्यवस्थाभोगदानतः॥२१॥
नाशतश्चेति पूर्णन्तु साकल्येन चतुष्टयात्॥
पूर्णस्वत्वस्य राहित्ये ह्यांशिके चांशहापनात्॥२२॥
स्वत्वलोपस्तु विज्ञेयो यथायथमथापि तत्॥
स्वोपभोगे ह्यधर्मोहि तत्स्वत्वेऽनधिकारतः॥२३॥
पुत्रपुत्र्योस्तुदाने हि स्वत्वं शास्त्राप्रचोदितम्॥
विधवायाः भर्तृसम्पत्तौ स्वत्वं भोगोपयोगि वै॥२४॥
दानोपयोगि नो स्वत्वं भर्त्रबन्धुजनाय हि॥
स्त्रीधनेपि तथा पत्युः स्वत्वं भोगाय निन्दितम्॥२५॥
व्यवस्थौपयिकं मान्यमतस्तद् ह्यांशिकं मतम्॥
अन्यगेहाराध्यमूर्तौ स्वीयत्वाभावतः सदा॥२६॥
प्रदीयते चेत् स्वत्वलोपात् तद्देवस्वमुदाहृतम्॥
देवस्वापहरणेन वृत्यर्थं देवसेवनात्॥२७॥
पातकी हि भवेद् भक्तः तस्मात् तत्परिवर्जनम्॥
अन्यत्रावस्थिते देवे दत्तं न स्यात् समर्पितम्?॥२८॥
स्यादेव यदि कर्तुश्चेद् देवमूर्तेः स्वकीयता॥
स्वकीयत्वेऽन्यत्र नेतुं दातुं वा स्वीयबन्धवे॥२९॥

दायभागतया तस्माद् अन्यथा न समर्पणम्॥
इत्थं स्वत्वस्वरूपन्तु विज्ञेयं पुष्टिमार्गिभिः॥३०॥
सिद्धान्तमुक्तावल्युक्ते तनुवित्तज-सेवने॥
भक्तिवर्धिन्युक्तगेहे मूर्त्याराधननिर्णयात्॥३१॥
दानेहि न स्वविनियोगो दत्तस्यैवापरिग्रहात्॥
तृतीयस्य चतुर्थे (अणुभा.३।४।४७-४९) हि
भाष्यकृद् वचनात्पुनः॥३२॥
"स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवन्मूर्तिसेवनम्"॥
रसात्मकतया भक्तेः भावस्य गोपनेन हि॥३३॥
अनाविष्कुर्वता कृष्णभजनं नान्यथा भवेत्॥
साधनस्य दीपिकायां नियमोह्यवधारितः॥३४॥
सेवाप्रदर्शनं स्वीयभक्तानां हि कृते मतम्॥
येत्वस्वीया ह्यभक्ताः वा न तेषामधिकारिता॥३५॥
स्वत्वेऽधिकारिता कल्प्या ह्यन्यथानधिकारिता॥

(उपसंहारः)

एतदज्ञानतो मार्गे भक्तेः स्यान्महती क्षतिः॥३६॥
इति संक्षेपतो नूनं कृता सेयं विचारणा ॥
पूर्णानन्दस्य जिज्ञासोः पूर्णानन्दसमाधये॥३७॥
पूर्णानन्दकृपालब्धमतिनैतद् निरूपितम्॥
श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणाविर्भावदिवसेऽद्य॥३८॥
विवेकोयं मयाकारि कृपयन्तु सदा मयि॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण कृतः
त्यागदानार्पणसमर्पणैर्विनियोगविवेकः
सम्पूर्णः



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यकमलेभ्यो नमः ॥

(प्रत्येकपदार्थः)

अर्थ : **सहस्र** अपरिमित **परिवत्सर** वर्ष **मितकालजात** इतनो काल व्यतीत भयो है, **कृष्णवियोग** पुरुषोत्तमते भगवदिच्छा करके न्यारे भए ताते, **जनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं** भगवद्वियोगते भगवन्मिलनार्थ ताप और क्लेश भयो चैये सो न भयो, और आनन्दको अभाव भयो, **अहं** मैं जो ऐसो जीव हुं सो, **भगवते कृष्णाय** षड्गुणसम्पन्न भगवान् सदानन्दको, देह शरीर पाञ्चभौतिक **इन्द्रिय** दस चक्षुश्रोत्रादि **प्राणवायु** दस **अन्तःकरणानि** मनबुद्धिचित्ताहंकार **तद्धर्मांश्च** इनके जो धर्म, देहते चलनो, आंखनते देखनो, ओर मनकी वृत्ति, **दारा** स्त्री, **आगार** घर, **पुत्राप्त** पुत्र, कुटुम्ब, **वित्त** द्रव्यादि, **इहापराणि** यह लोक-परलोक, **आत्मना** परमात्मा ओर जीवात्मा इन करिके **सह** साथ, **समर्पयामि** आछे समर्पण करत हुं. **दासोऽहं** में दास हुं. **कृष्ण** हे कृष्ण, **तवास्मि** में तुमारो हुं इति.

(पदसमुदायार्थः)

अब समुदायको अर्थ : अपरिमित वर्षप्रमाण इतनो काल बीत्यो, कृष्णते वियोग भयो, एसो में जो जीव हुं, सो सर्वगुणसम्पन्न भगवान् इनको, शरीर-इन्द्रिय-प्राणवायु-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार इनके जे धर्म हें, ओर स्त्री-घर-पुत्र-कुटुम्बी-वित्त यह लोक-परलोक जीवात्मा-परमात्मा साथ, में सब भेट करत हुं. में दास हुं. कृष्ण! में तुमारो हुं.

(भावार्थः)

अब भावार्थः लिख्यते : सृष्टिके आदिमें भगवदिच्छा भई,

दैवी जीव प्रकट करवे की. तब अपने श्रीअंगते अपने दैवी जीव प्रकट कीए. सो पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द हे, जीव जो हे सो अंश हे, सच्चिदानन्द अंशते प्रकट भयो, ओर भगवान्ते जुदो भयो, सो भगवान्के मिलनार्थ वियोगजन्य तापक्लेश भयो चैयें, सो न भयो, ओर मायाको सम्बन्ध भयो, ओर अपनो स्वरूप भूल गयो ओर आनन्दको अभाव भयो. ताको अनन्त परिवत्सर क्यों कह्यो? सो ज्योतिषशास्त्रमें पांच वर्षको युग होत हे. सो प्रभव, विभव, शुक्ल, परमेष्ठी, प्रजापति इत्यादिक छह संवत्सर हे. पहले वर्षकी 'संवत्सर' संज्ञा, ताको अग्नि देवता. ओर दूसरो जो वर्ष ताकी 'परिवत्सर' संज्ञा, ताको सूर्य देवता. तीसरो जो वर्ष जो 'इदावत्सर', ताको देवता चन्द्रमा. चोथे वर्षकी 'अनुवत्सर' संज्ञा, ताकी गौरी देवता. एसे ही साठ वर्षके बारह जुग होत हें. सो 'परिवत्सर' काल कह्यो, ताको सूर्य देवता. ताते जन्म-मरणादि अत्यन्त ताप भयो, सो जताइवेके अर्थ 'परिवत्सर'पद कह्यो हे.

एसो भगवदंश चिदंशयुक्त षड्गुणरहित मायासंबन्धसहित, ओर आनन्दरहित, ऐसो जो जीव हुं सो. षड्गुण कोनसे? ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ए छह गुण जो होय ताकु भगवान् कहिये. 'कृष्'शब्द जो हे सो 'सत्'को वाची हे ओर 'ण'शब्द हे सो 'आनन्द'को वाची. आद्य-अन्त आयो तो मध्य आवे ही. तासों सच्चिदानन्द एसो जो कृष्ण. कहुं **'गोपीजनवल्लभ'** यह पद भी कह्यो हे. सो श्रीगोकुलेशजीने धर्यो हे. एसे बड़ेके मुखते सुन्यो हे.

सो काहे के अर्थ धर्यो हे? श्रीमथुराजी पधारे सोहु श्रीकृष्ण भगवान् हे. सो वा स्वरूपमें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण, वासुदेव ए चारों व्यूह हें. सो बाहिर हें, ओर पुरुषोत्तम भीतर हे. ओर

गोपीजननके वल्लभ कहिए, प्यारे एसे, जो नन्दनन्दन सो सदा ब्रजमें ही बिराजे हें, सो पुरुषोत्तम बाहिर ओर व्यूह भीतर हें, एसे जो पुरुषोत्तम तिनकुं अर्पण करत हुं. ओर मथुरा जो स्वरूप तासों जुदो करवेके अर्थ 'गोपीजनवल्लभ'पद धर्यो हे.

एसे जो कृष्ण हे तिनकुं. पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, ए पांच भूतको भौतिक शरीर; अब इन्द्रिय, कान, त्वचा, नेत्र, घ्राण, जिह्वा, इनकुं ज्ञानेन्द्रिय कहीये; अब प्राणवायु सो प्राणवायु एक हे, स्थानकार्य-भेद करके दश नाम कहते हे, हृदयमें रहत हे, ऊर्ध्व जाके गमन होत हे सो प्राणवायु, ओर अधोगमन हे ताकी अपानसंज्ञा, व्यान सब शरीरमें रहत हे, उदान कण्ठमें रहत हे, समान नाभिमें रहत हे, नाग खावे-पीवेकी बराबरी करे हे, कुम्भ पलक लगावे हे. ऊरु खेंचे, अकल भुख लगावे, देवदत्त उबासी लावे, धनंजय सब शरीर फरकावे. ओर अन्तःकरण सो मन, बुद्धि, चित्, अहंकार. संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण सो मन, सूक्ष्म अन्तःकरण वृत्ति सो चित्त, निश्चयात्मक अन्तःकरणकी वृत्ति सो बुद्धि, "में करत हुं" एसो जो ज्ञान सो अहंकार. पूर्वोक्त देहके इन्द्रियके प्राणके अन्तःकरणके जे धर्म कानते सुननो, त्वचातें सीरो-तातेको प्रत्यक्ष परसनो, आंखनते रूप देखनो, ओर जिह्वाते स्वादज्ञान, नासिकाते दुर्गन्ध-सुगन्धको प्रत्यक्ष करे, वाकूते बोलनो, हस्ततें कार्य करनो, पांवतें चलनो इत्यादिक जे धर्म, ओर स्त्री, घर, पुत्र, कुटुम्ब, वित्त धनादि. जो यह लोक-परलोक, जीवात्मा कहिये जीव, परमात्मा अन्तर्यामी जीवके कृत्यके साक्षी, इनके साथमें आपकुं भेट करत हुं.

सो काहेते? जो नाममंत्रतें सात भक्ति सिद्ध होत हें : जब जीव नाम सुन्यो तब श्रवणभक्ति सिद्ध भई. जब जप करन लग्यो तब कीर्तनभक्ति सिद्ध भई. जब भगवद्ध्यान करन लग्यो

तब स्मरणभक्ति सिद्ध भई. समयनेमते सेवा करन लग्यो तब पादसेवन-भक्ति सिद्ध भई. नेमते सेवा करन लग्यो तब अर्चनभक्ति सिद्ध भई. अर्चन कहिए पूजामें कालको नेमही हे सो पूजा. कालको नेम नही हे सो सेवा. जब दण्डवत् करन लग्यो तब स्तुति करन लग्यो तब वंदनभक्ति सिद्ध भई. जब शरणमन्त्रको मन्त्रार्थ-ज्ञान भयो तब भगवदाश्रय सिद्ध भयो, दासभक्ति सिद्ध भई. सख्य आत्मनिवेदन यह ब्रह्मसम्बन्धतें सिद्ध होवें. सख्य जो मित्रता उभयनिष्ठ हे. जातें मित्रता करिए ताकों मनमें मित्रता करवेकी होय तब बने. सो पवित्राएकादशीकी अर्धरात्रीकु प्रकट होयके श्रीआचार्यजी महाप्रभुजीकु ब्रह्मसम्बन्ध देवेकी आज्ञा दीनी. ताते भगवदाज्ञाते भगवदीयताके ज्ञानते भगवान मित्रता करत हें. ताते सख्यभक्ति सिद्ध भई. मन्त्रार्थ विचारते आत्मनिवेदन भक्ति सिद्ध भई. जो कछु पदार्थ हे सो भगवानको हे, तब ममता निवृत्त भई. ओर भगवान अन्त:करणमें प्रेरणा करत हे तेसे में करत हुं तब अहन्ताकी निवृत्ति भई. भगवदीय करके परिसमाप्त सब पदार्थ भयो. जब यह मुख्य स्वरूपसेवा वाको अधिकार भयो. ताते दोऊ मन्त्र मिलायके जप करनो.

इति श्रीमद्दीक्षित गोस्वामि श्रीगोपालात्मज
श्रीगिरिधरजीकृता गद्यार्थव्याख्या
सम्पूर्णा



આદ્યસંપાદક રણછોડદાસ વરજીવનદાસની વિજ્ઞપ્તિ

સર્વ ગોસ્વામિબાલકોની કૃપાથી અને ગુરુ શ્રીગિરિધરલાલજી સુરતવાલાના વિશેષાનુગ્રહ અને પ્રેરણા થી ગ્રન્થની પ્રસિદ્ધિ શુદ્ધ સ્વરૂપમાં થતાં મને બહુ આનન્દ થાય છે. આ સર્વે પ્રતો મેળવી આપીને શોધી આપવા માટે રા.મૂલચન્દ તેલીવાલાનો તથા રા.ધીરજલાલ સાંકલીયાનો હું આભારી છું. આ ગ્રન્થનું પ્રાકટ્ય મ્હારા સ્વત:સન્તોષને અર્થે છે.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचिता श्रीगायत्रीव्याख्या ॥

(श्रीमत्पुरुषोत्तमविरचितेन विवरणेन सहिता)

श्रीकृष्णः स्वात्मनः सर्वम् उत्पाद्य विविधं जगत् ॥
तदासक्तांशबोधाय शब्दब्रह्माऽभवत्स्वयम् ॥१॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमद्भागवतारम्भे गायत्र्या उपनिबद्धत्वात् तस्याः स्वरूपं बोधयितुं तदर्थं व्याकुर्वन्तो. यथा पुरुषविधब्राह्मणे क्रीडेच्छया रूपसृष्टौ स्वरूपस्य द्वैधीभावेन पतिपत्नीभावसम्पादनोत्तरं नानारूपसृष्टिः ततः स्वतिरोभावेन जीवानां मोहसम्पादने संसारासक्तिः तथा अत्र तदुत्तरं नामसृष्टिः परन्तु मोहनिवारणाय स्वस्य रसरूपत्वबोधनेन आश्रयदानायेति फलभेदं बोधयितुं एतदेव अभिप्रेत्य नवलक्षणलक्षिताश्रय-निरूपक श्रीभागवतारम्भ उपनिबन्धं च बोधयितुं वेदोत्पत्तिप्रयोजनम् आदौ आहुः. **श्रीकृष्ण** इत्यादि, अयं प्रकारः, "**स** [१]**आत्मानं स्वयम् अकुरुत**" (तैत्ति.उप.२।७) इत्युक्तायामेव सृष्टौ न इतरत्रेति वेदशब्देभ्यो जगन्निर्माणबोधकश्रुतिस्मृतीनां न विरोधः इति आशयेन आहुः **स्वात्मन** इति, **शब्दब्रह्म** इति "**स एष जीवः**" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यत्र उक्तनादात्मा निःश्वसितस्य अवस्थाविशेषरूपः ॥१॥

तत्र सर्गादिभिः क्रीडन् नित्यानन्दरसात्मकः ॥
निजभावप्रकाशाय गायत्रीरूप उद्बभौ ॥२॥

ततो गायत्र्युत्पत्तिम् आहुः **तत्र** इत्यादि, **तत्र**इति स्वात्मके स्वकृते प्रपञ्चे ॥२॥

सा षड्गुणयुतं सर्ववेदबीजं गुणातिगम्॥
सर्वावताररूपं हि सर्वतत्त्वोपबृंहितम्॥३॥

तस्याः प्रणवोत्तरावस्थात्वबोधनाय आहुः **सा** इत्यादि, **सर्ववेदबीजम्** ॐकारः "**स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजम्**" (भाग.पुरा.१२।६-।४१) इति वाक्यात्, तेन यथा तत्र रूपस्य पतिपत्नीभावः तथा अत्र नादस्य क्रमेण ॐकार-गायत्रीभाव इति अर्थः. एतेन गायत्रीकल्पादिप्रसिद्धं सगुणत्वम् अत्र न विवक्षितम् इति बोधितम्. तत्र गमकं वक्तुं तद्ब्राह्मणं व्याकुर्वन्तो मन्त्रस्य अक्षरात्मकत्वात् पूर्वं तदक्षरसंख्याप्रयोजनम् आहुः **सर्व**...इत्यादि, क्षराक्षररूपत्वबोधनाय अर्धेन प्रयोजनद्वयम् उक्तम्॥३॥

शृंगारैश्वर्यसंयुक्तं पुरुषद्वयपूर्णम्॥
भक्त्या सर्वेन्द्रियाह्लादि चर्तुविंशाक्षरं ततः॥४॥

तृतीयम् एकेन आहुः **शृंगार**... इत्यादि, शृंगारो द्विधा, ऐश्वर्यम् अष्टधा, आन्तरेन्द्रियं चर्तुधा, बाह्येन्द्रियाणि दशधा, एवं चतुर्विंशन्तिः, पुरुषोत्तमत्व बोधनाय इदम्. तत्रापि सर्वान्तरत्वबोधनाय '**पूर्ण**'पदम्॥४॥

मार्गत्रयप्रकटनं भावत्रयविवर्धनम्॥
सच्चिदानन्दपूर्णं च त्रिपदेति प्रकीर्त्यते॥५॥

प्रचारार्थं पदसंख्यातात्पर्यम् आहुः, **मार्ग**...इत्यादि, ज्ञान-कर्म-भक्तिरूपस्य **मार्गत्रयस्य प्रकटनं** यस्माद् इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः. एवम् अग्रेऽपि **भावत्रयं** च विभावा-ऽनुभाव-व्यभिचारिभेदेन ज्ञेयम्. इदं परं गमकम्.

छन्दो मन्त्रस्य गायत्री प्रेमोल्लासाद् अहर्निशम्॥
गायन्तं त्रायते भावम् आच्छादयति चैव हि॥६॥

एवं गुणातीतपरिचायनाय द्वयम् उक्त्वा अत:परं तैत्तिरीयश्रुत्युक्तक्रमेणैव उक्तार्थानां पदार्थानां स्वरूपम् आहु: छन्दइत्यादि, "**छादनात् 'छन्द'** [२] **इत्युक्तम्/उद्दिष्टम् आकृते: वाससी यथा आत्मा संछादितो दैवै: मृत्युभितैश्च वै पुरा आदित्यैर् वसुभी रुद्रै: तेन छन्दांसि तानि वै**" (बृहद्योगी.स्मृ.१।३९-४०) इति योगियाज्ञवल्क्योक्तं "**सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनात् 'छन्द' उच्यते**" (रुद्रयामलम्.उ.त.४७।८४) इति वाक्योक्तं च. छन्दस्तु अप्रयोजकं रूपम् आहु: **भावम्** इत्यादि॥६॥

विश्वामित्रो जगन्मित्रम् ऋषिरत्र हरि: स्वयम्॥
"मित्रे चर्षा"विति प्रोक्ते: पूर्वाच्चापि प्रतीयते॥७॥

"**विश्वस्य जगतो मित्रं विश्वामित्र: प्रजापति:**" (बृहद्योगी.स्मृ.४-।५) इति बृहद्याज्ञवल्क्योक्तम् **ऋषिस्वरूपम्** आहु: **विश्वामित्र** इत्यादि लोकिकम् ऋषिं परित्यज्य भगवद्ग्रहणे बीजम् आहु: मित्रइत्यादि, इदं हि 'विश्व'शब्दस्य दीर्धविधायकं सूत्रं, इत: पूर्वन्तु "**विश्वस्य वसुराटो:**" (पाणि.सू.६।३।१२८) इति, तथाच विश्वराजो विचारे निरंकुशं विश्वाराट्त्वं यथा "**सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशान: सर्वस्य अधिपति: सर्वम् इदं प्रशास्ति**" (बृह.उप.५।६।१) इति श्रुतिपुराणादिभि: हरावेव सिद्धम्. एवं "**केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे**" (भाग.पुरा.२।२।८) इत्यादिपुराणै "**द्वा सुपर्णा**" (मुण्ड.उप.३।१।१) इत्यादि श्रुतिभिश्च निरंकुशविश्वामित्रत्वमपि. तस्य ऋषित्वं च "**यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षि:**" (महाना.उप.१०।३) इति मन्त्रे तथा पुराणेषु च सिद्धम्. अतो अत्र सएव ऋषि: इति अर्थ:॥७॥

सविता सर्वबीजानां निजानां देवतास्य हि॥
आचार्यो भगवान् अग्निर् मुखम् अस्य प्रकीर्तितम्॥८॥

"यस्य-यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या तदाकारा भवेत् तस्य देवत्वं/दैवतं देवता उच्यते" (बृहद्योगी.स्मृ.१।४१) इति याज्ञवल्क्योक्तेः देवतानिष्कर्षम् आहुः. **सविता** इत्यादि, जन्माद्यधिकरणे, **"सर्वयोनिषु कौन्तेय!"** (भग.गीता १४।४) इति गीतायां च तथैव सिद्धत्वात् सएव **देवता**इति अर्थः, एतत्त्रयज्ञापनं च अत्यावश्यकम् ऋचा **"अविदितार्थेन/अविदितार्षेयत् छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति अध्यापयति वा स स्थाणुं वा ऋच्छति गर्तं प्रतिपद्यते"** (आर्षेयब्रा.१।१।१) इति तदज्ञाननिन्दाश्रुतेः इति. **"अग्निर् मुखम्"** (महाना.उप.३५।१) इति श्रुतिं विवृणवन्ति **आचार्य** इत्यादि॥८॥

गतिज्ञानार्थधातूक्त्या नलोपाच्च प्रतीयते॥
लोपस्यादर्शनात्मत्वात् प्राकृतानुकृतिर् मता॥९॥

तदवगतिप्रकारम् आहुः **गति**...इत्यादि, **"अकि अगि गतौ"** (पाणि.धा.पा.भ्वा ७९३,७९४) इति गत्यर्थो 'गि'धातुः गत्यार्थानां च ज्ञानार्थत्वं प्रसिद्धम्. तस्माच्च **"अङ्गेर्नलोपश्च"** (शाकटा.धा.उणा.४-६९४) इति सूत्रेण 'न'लोपे 'नि'प्रत्यये च जाते अग्निरिति भवति. तथाच अङ्गतेः गत्यात्मकज्ञानाधारो भवति इति अर्थाद् धातूक्त्या च अर्थत्वप्रतीतिः इति अर्थः. **नलोपात्** तत्प्रतीतिप्रकारम् आहुः **लोपस्य** इत्यादि॥९॥

"ब्रह्मा शिरो" जगद्बीजं सत्यलोकस्थितेरपि॥
यज्ञात्मको जगद्व्यापि शृंगाररसविग्रहः॥१०॥

"**ब्रह्मा शिरो**" (महाना.उप.३५।१) इति श्रुतिं विवृण्वन्ति **ब्रह्मा**इत्यादि.

"विष्णुः हृदयम्" इत्युक्तं हृद्ययं हृदयं श्रुतौ॥
तत्तद्धर्मप्रधानत्वात् सर्वं च स्वयमेव हि॥११॥

"**विष्णुः हृदयम्**" (महाना.उप.३५।१) इत्येतां विवृणवन्ति **यज्ञात्मक**इत्यादि, "**यज्ञो वै विष्णुः**" (तैत्ति.ब्रा.१।२।५।१) इति श्रुतेः "**विष्लृ व्याप्तौ**" (पाणि.धा.पा.जुहो.३।७) इति धात्वर्थात्. "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या शृंगाररसात्मकत्वात् स तथा इति उक्तम् इति अर्थः. हृदये विशेषम् आहुः **हृदि अयम्** इत्यादि. छान्दोग्ये दहरविद्यायां "**स वा एष आत्मा हृदि तस्य एतदेव निरुक्तं 'हृदि अयम्' इति तस्माद् हृदयम्**" (छान्दो.उप.८।३।३) इति. तथाच आत्मत्वबोधनाय अत्र '**हृदय**'पदं नतु अवयवविशेषमात्रबोधनाय इति अर्थः. ननु प्रायपाठेन अत्र देवताविशेषएव प्रत्याय्यो नतु परः इत्यतः आहुः **तत्तद्**इत्यादि, तथाच "**तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभुद्**" (भाग.पुरा.३।८।१५) इत्यत्र उक्तो भगवद्रूपएव ब्रह्मापि ज्ञातव्यः इति अर्थः. एवं सर्वत्र बोध्यम्॥११॥

"रुद्रः शिखे"ति कथनात् क्लेशात्मा स निरूपितः॥
अहंकारो बन्धरूपइति बद्धा शिखा मता॥१२॥

"**रुद्रः शिखा**" (महाना.उप.३५।१) इति श्रुतिं द्वाभ्यां व्याकुर्वन्ति **रुद्र**इत्यादि **क्लेशात्मत्वं** "**रोदयतीति रुद्रः/रोदयन्ति तस्माद् रुद्रः**" (बृह.उप.३।९।४) इति बृहदारण्यके निर्वचनाद् ज्ञेयम्. **अहंकारत्वं** च "**वैकारिकः तैजसश्च**" (भाग.पुरा.१०।८५।३) इति दशमस्कन्धे "**शिवः शक्तियुतः शश्वद्**"(भाग.पुरा.१०।८५।३) इति सन्दर्भीयवाक्याद् ज्ञेयम्॥१२॥

मुखस्याग्नित्वकथनात् तज्ज्वाला च शिखा मता॥
लौकिकी दुष्टदाहाय ''घोरातनू''रिति श्रुतेः॥१३॥

''**घोरा तनूः**'' (तैत्ति.संहि.२।२।२।३) इति इयं श्रुतिः तैत्तिरीयसंहिताद्वितीयाष्टके ''**अग्नये रुद्रवते पुरोडाशम् अष्टाकपालं निर्वपेद्. अभिचरन् एषा वा अस्य घोरा तनूर् यद् रुद्र**'' (तैत्ति.संहि.२।२।२।३) इति आभिचारिकम् इष्टिविशेषं प्रकृत्य पठिता अस्तीति ततः सर्वस्यैव विवक्षितार्थस्य सिद्धिः॥१३॥

पृथिवी भगवत्कीर्तेर् उत्पत्तेः कारणं मतम्॥
भक्तिबोधाय चरणरेणुरूपत्वकीर्तनम्॥१४॥

''**पृथिवी योनिः**'' (महाना.उप.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **पृथिवी**इत्यादि, ''**प्रथ प्रख्याने**'' (पाणि.धा.पा.भ्वा.७६६), प्रथनात् **पृथिवी** प्रथनं च ''**त्वम् एतद् विपुली कुरु**'' (भाग.पुरा.२।७।५१) इत्यादि वाक्यैः सिद्धम्. तथाच सैव अत्र विवक्षिता नतु भूतात्मिका इति अर्थः. श्रवणादीन् प्रति **कीर्तेर्** एतस्य उत्पत्तिहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् तत्कार्यभूत-**भक्तिबोधाय चरणरेणुरूप** पृथिवीत्व**कीर्तनम्** इति अर्थः॥१४॥

प्रियत्वाय हरेः सर्वप्राणात्मत्वेन वर्णनम्॥
शुक्लभास्वररूपन्तु श्वेतवर्णेति कीर्तितम्॥१५॥

''**प्राणापानव्यानोदानसमाना सप्राणा**'' (महाना.उप.३५।१) इत्येतद् व्याकुर्वन्ति **प्रियत्वाय**इत्यादि, प्राणेषु प्रियत्वस्य लोकवेदप्रसिद्धत्वाद् तदात्मकत्वे सति स प्राण इन्द्रप्रतर्दनोपाख्याने सिद्धो यः आत्मरूपः प्राणः तत्सहितः. अतः तथा वर्णनम् इति अर्थः. ''**श्वेतवर्णा**''(महाना.उ-

प.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **शुक्लइत्यादि**, भास्वरत्वं प्रकाशकचैतन्यरूपत्वाद् ज्ञेयम्॥१५॥

भगवद्योग्यतासिद्ध्यै श्वेतः सर्वाधिको मतः॥
सांख्यायनसगोत्रत्वं भगवद्भोगसिद्धये॥१६॥
सहि ब्रह्म परं जीवः सच्चिदानन्दतोभयोः॥
सगोत्रत्वम् अतः प्रोक्तं न वैलक्षण्यम् अण्वपि॥१७॥

"**सांख्यायनसगोत्रा**" (महाना.उप.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **सांख्यायन** इति सार्धेन. हि यतो हेतोः, **स** **संख्यानं सांख्यं** पदार्थं संख्यायुक्तं ब्रह्मवादसिद्धं ज्ञानम् अयनं ज्ञापकं यस्य तादृश वेदात्मा ब्रह्म. **परं** परं तु **जीवः** "**स एषः जीवः**" (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति वाक्यात् प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वेन **जीवः उभयो** जीवब्रह्मणोः **सच्चिदानन्दता, अतः सगोत्रत्वं प्रोक्तम्**. तत्प्रयत्नत्यागेतु **अण्वपि वैलक्षण्यं न** अस्ति. तेन **भोगसिद्धिः** इति अर्थः॥ १६ -१७॥

भगा देशादयो वापि शक्तयश्चेन्द्रियाणि च॥
ज्ञानानि खण्डाखण्डानि कुक्षौ सर्वविनिश्चयात्॥१८॥

"**चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा**" (महाना.उप.३५।१) इत्यस्य प्रागेव व्याख्यातत्वात् "**षट्कुक्षिः**" (महाना.उप.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **भगाः** इत्यादि, **भगाः** ऐश्वर्यादयः, **देशादयो** देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माणि, **शक्तयः** कर्मेन्द्रियाणां समनसां सामर्थ्यानि, **इन्द्रियाणि** समनांसि ज्ञानेन्द्रियाणि, **ज्ञानानि खण्डाखण्डानि** एकैकदर्शनैकैकांगजन्यानि खण्डानि, तान्येव गुणोपसंहारेण अन्धहस्तिन्यायेन विशिष्टनिदिध्यासनरूपाणि सन्ति अखण्डानि कुक्षिरूपाणि भवन्ति इत्यतः षट्कुक्षिः इति अर्थः. तत्र

हेतुः **कुक्षौ विनिश्चयाद्** इति, समुद्रवत् कुक्षेः सर्वाधारतया विशेषेण सर्वनिश्चयाद् इति अर्थः ॥१८॥

धामान्यर्था विभावाश्च सर्वोपनिषदः शिरः ॥
समीपनयने विष्णोर्विनियोगः प्रकीर्तितः ॥१९॥

"**पञ्चशीर्षो...**" (महाना.उप.३५।१) व्याकुर्वन्ति **धामानि** इत्यादि. श्वेतदीपा-ऽनन्तासन-वैकुण्ठ-ध्रुवस्थान-गोलोकधामानि. **अर्थाः** तन्मात्राणि धमार्थकाममोक्षभक्तयो वा. 'पञ्चास्य' शब्दइव 'पञ्चशीर्ष' शब्दो विस्तारवाचि इति अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **विभावा** इत्यादि, तेषां-तेषां भगवदीयानां रसानाम् आलम्बनोद्दीपनविभावाः स्त्र्यादयः ऋत्वादयश्च, **सर्वोपनिषदः** तत्तच्छाखास्थाः. उपनिषदां शिरस्त्वन्तु "**ऋचां मूर्धानं यजुषाम् उत्तमांगम् साम्नां शिरो अथर्वणां मुण्डमुण्डम्**" (कौषी.वेदशिर.उप.) इति कौषीतकीये श्रावितम्., अन्येषान्तु उत्कर्षनियामकत्वाभ्यां ज्ञेयम्. अत्र सर्वं ज्योतिश्चरणाधिकरणोक्तरीत्या वाच्यवाचकाभेदविवक्षया च उपपन्नमितिन काचिद् अनुपपत्तिः. "**उपनयने विनियोगः**" (महाना.उप.३-५।१) इति व्याकुर्वन्ति **समीप** इत्यादि, विनियोगलक्षणन्तु योगियाज्ञवल्क्येन उक्तं "**पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च अनेन इदन्तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते**" (बृहद्योगी.स्मृ.१।४२) "**दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगम् अजानतः**" (लिंगपुरा.१।८५।१८४) इति. ब्राह्मणं लक्षणमपि तत्रैव "**निरुक्तं यस्य मन्त्रस्य समुत्पत्तिः प्रयोजनं प्रतिष्ठानं स्तुतिः चैव ब्राह्मणं तदिह उच्यते**" (बृहद्योगी.स्मृ.१।४३) इति, तत्तु इह "**आयातु वरदा देवि**" (महाना.उप.३५।१) इत्यारभ्य श्रुतम्. तथापि "**गायत्र्याः गायत्रीछन्दः**" (महाना.उप.३५।१) इत्यादेः अर्थज्ञानेन पूर्वोक्तं सर्वमेव एतदनुगुणी भविष्यतीति एतदारभ्यैव व्याख्यातमिति बोध्यम् ॥१९॥

सप्त व्याहृतयः प्रोक्ता भूरैश्वर्यम् उदाहृतम् ॥

सर्वाधारत्वत: तावच्छक्तित्वाद् नास्य बाधनम्॥२०॥

एतदग्रे "**ॐ भू:**" (महाना.उप.१५।२) इत्यादिना प्रणवाभ्यास: **सप्त व्याहृतय:** च उक्ता:. तत्र प्रणवो गायत्रीशिर: समाप्तावपि वर्ततइति तं तत्रैव विवरिष्यन्तो अत्र व्याहृतीरेव आहु: **सप्त**इत्यादि. **प्रोक्ता:** इति विनियोगोक्त्यनन्तरम् उक्ता:. एतासां व्याहृतित्वं तेनैव निरुक्तं पूर्वं तासां त्रिचतुष्पञ्चसप्तभेदान् उक्त्वा "**भूर्भुवस्स्व: तथा पूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतय: स्मृता:**" (बृहद्योगी.स्मृ.३।९) इति, विवक्षिता: भेदा: तत्रैव उक्ताइति अनपेक्षित्वाद् अन्य इह उच्यन्ते. तत्र आद्या: सद्वाचकत्वाद् **ऐश्वर्यमेव** तया मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यते इति बोधयन्ति **भू:** इत्यादि. तत्र हेतु: **सर्वाधारत्वत:** इति, भगवदैश्वर्यस्य तथात्वाद् इति अर्थ:. ननु मुख्यार्थपरित्यागेन किमिति एवं व्याख्यायते? इत्यत: आहु: **तावद्** इत्यादि, गीतायां "**उत्तम: पुरुषस्तु अन्य: 'परमात्मा' इति उदाहृत: यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय: ईश्वर:**" (भग.गीता १५।१७) इति ऐश्वर्येण **सर्वाधारत्व**बोधनम्. अतो भगवत: **तावच्छक्तित्वाद् अस्य** एवंव्याख्यानस्य कुत: केभ्यो: **न बाधनं**, व्यासचरणैरेव उत्तरतन्त्रे तथा अंगीकारात्. तथाच लौकिकार्थग्रहणएव मुख्यार्थत्यागो वृत्तिसंकोचश्च नतु अत्र इति अर्थ:॥२०॥

अन्तरिक्षत्वकथनाद् भुवो वीर्यं निरूपितम्॥
सुव: श्री: मनुष्यस्य कथनाद् अवसीयते॥२१॥

द्वितीयां विवृणवन्ति **अन्तरिक्ष** इत्यादि, लोकप्रसिद्धविचारे **भुवो** अन्तरिक्षत्वकथनात् "**(ते) अन्तरिक्षम् अजयन्**" (तैत्ति.संहि.५।३।११।१) इति श्रुत्या तस्मिन् रुद्राणां प्रभुत्वाद् द्वितीयस्कन्धीयतृतीयाध्याये वीर्यकामानां

तद्भजनस्य उक्तत्वात् तत्प्रभुत्वेन 'भुवः'पदात् **वीर्यं** निरूपितम् इति अर्थः. तृतीयाम् आहुः **सुवः** इत्यादि, तैत्तिरीयाणां सप्तमाष्टके द्वात्रींशद् रात्रप्रसंगे श्रावितं "**श्रीर्हि मनुष्यस्य...सुवर्गो लोकः**" (तैत्ति.संहि.७।४।२।१-६) इति. अतः एवं कथनाद् भगवतः **श्रीरेव सुवः** इति अर्थः ॥२१॥

महो यशः परं प्रोक्तं सुखं तेजस् ततो अत्रहि ॥
जनो वैराग्यम् इत्युक्तं तापनाशकता यतः ॥२२॥

चतुर्थीम् आहुः **महइत्यादि,** तत्र हेतुः **यशः परं प्रोक्तम्** इति. लोके शास्त्रे च श्र्यपेक्षया यशएव उत्कृष्टं प्रोक्तम्. **ततो** यशस्त्वादेव **अत्र** महर्लोके **सुखं** स्वर्गापेक्षया अधिकं तेजोबोधक-'**महः**' शब्दवाच्यत्वाद्. **हि** निश्चयेन **तेजः** इति अर्थः. एतेन सर्वप्रसिद्धार्थग्रहणेऽपि तत्स्वरूपविचारतः तेषां भगवद्धर्मांशिताएव स्फुटतीति व्याख्यातो अर्थः सर्वोपि अविवादः इति अर्थः. पञ्चमीम् आहुः **जनइत्यादि, वैराग्यत्वे** हेतोः **तापइत्यादि,** "**जनं प्रयान्ति तापार्ताः महर्लोकनिवासिनः**" (विष्णुपुरा.१।३।२३) इति वाक्यात् स लोकः, **तापनाशकता** च वैराग्यएव स्फुटेति **जनो वैराग्यम् इति उक्तम्** इति अर्थः ॥२२॥

जनतायां तु तन्मुख्यम् अतो 'जन' इतीरितम् ॥
यस्य ज्ञानमयं प्रोक्तं तपः तस्मात् तदेव हि ॥२३॥

ननु तत्र आग्नेयएव तापो नाश्यते नतु सांसारिक इति कथं वैराग्यम्? इत्यत आहुः **जनतायाम्**इत्यादि, "**स्वायम्भुवं ब्रह्मसत्रं जनलोके अभवत् पुरा तत्रस्थानां मानसानां मुनीनाम् ऊर्द्ध्वरेतसाम्**" (भाग.पुरा.१०।८४।९) इत्यादिवाक्यात् तत्रत्यजनसमूहे मुख्यं वैराग्यम्.

अतो न संशयः तथात्वे इति अर्थः. षष्ठीम् आहुः **यस्य** इत्यादि **तदेव** इति ज्ञानमेव इति अर्थः. **हि** हेतौ, श्रुतिस्तु श्वेताश्वेतरस्था॥२३॥

"सत्यं परम्" इति प्रोक्तं स्वरूपम् इति निश्चितम्॥
लोकवेदप्रसिद्धार्थकथनाय तदीयताम्॥२४॥

सप्तमीम् आहुः **सत्यम्** इत्यादि, **"सत्यं परं परं सत्यम्"** (महाना.उप.२१।१) इति श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषदि. अत्र सत्यस्य परत्वेन विधानाद् निरंकुशस्य परत्वस्य च स्वरूपएव सत्त्वाद् अत्र तदेव **निश्चितम्** अर्थत्वेन निर्णीतम् इति अर्थः. एवं सार्धचतुर्भिः व्याहृतयो व्याख्याताः. अतःपरं गायत्र्याः पदानि सार्धसप्तभिः विवृण्वन्ति **लोक...**इत्यादि, **"अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम"** (भग.गीता १५।१८) इत्यस्य अर्थस्य **कथनाय** गायत्रीस्थः **'तद्'**छब्दः, **ईयतां** ज्ञायताम् इति अर्थः॥२४॥

द्वादशात्मत्वकथनात् सविता पुरुषोत्तमः॥
रूपम् आसक्तिजनकं वरणीयम् इतीरितम्॥२५॥

द्वादशात्म...इत्यादि, **"द्वादशो हि पुरुषः"** (तैत्ति.संहि.७।४।२१) इति श्रुत्या पुरुषस्य **द्वादशात्मत्वकथनात्** निरंकुशस्य जगज्जनकस्य तस्मिन्नेव पुरुषे सत्त्वात् **'सवितृ'**पदेन अत्र **पुरुषोत्तमएव** उच्यते इति अर्थः. एतेन **"विश्वामित्र ऋषिः छन्दो गायत्र्याः देवता रविः/अंशुमान्"** (भारद्वा.स्मृ.६।३४) इति भारद्वाजोक्तं प्रतीकविषयत्वाद् अनादरणीयम् इति बोधितम्. स्मृत्यन्तरे तु **"आदित्यमण्डलासीनं रुक्माभं पुरुषं परं ध्यायन् जपेत् तद् इत्येतद् निष्कामो मुच्यते द्विजः"** (द्र.वैखा.गृ.सू.ता.चि.१।-३।८) इति तथा **"आदित्यमण्डलान्तःस्थं परं ब्रह्माधिदैवतं छन्दोनिचित्**

स्याद् गायत्री मया दृष्टा सनातनी'' (द्र.वैखा.गृ.सू.ता.चि.१।३।८) इति उक्तम्. शैवास्तु **'भर्गः'** शब्दं प्रथमान्तम् **''अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्''** (पाणि.सू.३।३।१९) इति सूत्रेण घञन्तं च अंगीकृत्य **यो भर्गो नो धियः प्रचोदयात्** **'तत्'** पदं च लुप्तषष्ठीकम् अंगीकृत्य तस्य **सवितुर्** देवस्य **वरेण्यं धीमही** इति अन्वयं वदन्तः शिवपरत्वं शिवस्य परमपुरुषत्वम्, अन्यथा 'सवितृ'पदस्य ब्रह्मवाचकत्वे **'यः'**इति पुल्लिंगपदेन निर्दिष्टस्य कर्तुः अन्वयापत्तेः इति आहुः, तद् असंगतं **'भर्गः'** शब्दस्य शिवसाधारणत्वाभावात्. **''विष्णुसञ्ज्ञम्''** (मैत्रा.उप.६।२३) इति श्रुतेः, **''काचिद् वरेण्यं सवितुर् भर्गं विष्ण्वभिधं जगौ''** (शिखरणीमाला.५५) इति तैरेव उक्तत्वात्. बृहद्योगियाज्ञवल्क्येऽपि **''हिरण्यगर्भं पुरुषं व्योम्नि तद् 'विष्णु'सञ्ज्ञितं/हिरण्यवर्णं पुरुषं ध्यायेम 'विष्णु'संज्ञकं 'भ'इति भासयते लोकान् 'र'इति रञ्जयते प्रजाः 'ग'इति आगच्छते अजस्रं भरगाद् 'भर्ग' उच्यते''** (बृहद्योगी.स्मृ.९।४५-४६) इति कथनात्. किञ्च आपाततः शिवप्रतीतावपि **''रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः अग्निमध्ये**[३] **स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितो अच्युत''** (मैत्रा.उप.६।३८) इति मैत्रायणीयोपनिषदि **''रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः अग्निमध्ये/तेजो मध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्य अन्तःस्थितो/सत्यमध्ये स्थितो अच्युतः''** (बृहद्योगी.स्मृ.९।१२८-१२९) इति बृहद्योगियाज्ञवल्क्ये च सूर्यान्तः सोमम् = उमासहितं शिवम् उक्त्वा ततः सर्वान्तर अच्युतो भगवानेव प्रतिपादितइति सूक्ष्मेक्षिकया विचारकाणां पुरुषोत्तमस्यैव स्फुरणम्. नच मैत्रायणीयएव **''अथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवः ततो यो अस्य 'भर्गा'ख्यस्तं चिन्तयामि इत्याहुः ब्रह्मवादिनः''** (मैत्रा.उप.६।७) इत्यत्र **भर्गइति** सन्धिदर्शनेन तस्य अदन्तत्वं शंक्यं, शकन्ध्वादित्वात् टेः पररूपेऽपि एवंप्रयोगसिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. एतेनैव **''तद् भर्गाख्यं किमपि हि परम्''** (साम्बपञ्चाशिका १०) इति साम्बस्तुतिरपि व्याख्याता ज्ञेया. नापि **''कः सविता का सावित्री''**

(तलव.ब्रा.१२।१।१५) इति उपक्रम्य "**द्वितीयपादो भर्गमयः**" (तलव.ब्रा.१२।२।२) इति तलवकारब्राह्मणे प्रयोगाद् अदन्तत्वसिद्धिः, पृषोदरादित्वेन 'स'लोपेपि एवं प्रयोगसम्भवात्. अस्तु वा अदन्तत्वं तथापि पूर्वोक्तमैत्रायणीयवाक्ये '**भर्गः**'पदस्य द्वितीयपादएव अन्वयस्य श्रावणात् तस्य च अदन्तत्वपक्षेऽपि द्वितीयायाः छान्दसत्वेन स्वादेशसिद्धेः तदनादृत्य तस्य तृतीयपादेन अन्वयोररीकरणं मुधैव इति दिक्. इदं सर्वं शैवानां मतं शाक्तानां च मतं मया प्रहस्ताख्ये वादे प्रपञ्च्य दूषितम् अतो नेह प्रपञ्च्यते. अत "**एकएव/एको ह वै नारायण आसीद् न ब्रह्मा न ईशानः**" (महोप.१) "**पुरुषो ह वै नारायणो अकामयत**" (नारा.अथ.शि.उप.१) इत्यादिषु परब्रह्मणि पुल्लिंगप्रयोगस्य सवितृत्वोपाधावपि दर्शनात् '**पुरुष**'पदप्रयोगस्यापि तत्प्रकरणे सत्त्वाद् अत्र '**सवितृ**'पदेन पुरुषोत्तमः उच्यते इत्येव युक्तम्. '**वरेण्य**'पदं विवृण्वन्ति **रूपम्** इत्यादि. "**तत्सवितुर्वरेण्यम् इति असौ वा आदित्यः सविता सवा एवं प्रवरणीय आत्मकामेन इति आहुः ब्रह्मवादिनः**" (मैत्रा.उप.६।७) इति मैत्रश्रुतौ प्रकारवाचिना एवंपदेन कामयितव्यात्मधर्मस्य आत्मत्वस्य प्रकारत्वेन परामर्षात् निरुपधिप्रियत्वस्य च वाक्यान्वयाधिकरणे परस्मिन्नेव ब्रह्मणि विचारितत्वात् तथा इति अर्थः ॥२५॥

वरणे स्वार्थपरता निवृत्त्यै वृणुते यतः ॥
अन्योन्यरसबोधाय तथा वा समुदीरितम् ॥२६॥

एवं कथनप्रयोजनम् आहुः **वरणे** इत्यादि. **यतो** जीवो यद् भगवन्तं वृणुते तत् प्राकृतत्वात्मकस्य स्वान्यथारूपस्य **निवृत्त्यै वृणुते**. अतो **वरणे स्वार्थपरता** जीवपुरुषार्थसाधकत्वं, तथाच जीवपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं वरणीयत्वकथनम् इति अर्थः. तद् उक्तं योगिना "**वरेण्यं वरणीयं तु/च जन्मसंसारभीरुभिः**" (बृहद्योगी.स्मृ.९।५६) इति पूर्वोक्तश्रुतितएव

सिद्धम्. मुख्याधिकारसम्पादकतया मुख्यं प्रयोजनम् आहुः **अन्योन्य**...इत्यादि, यथा मुख्यमहिषीस्थले अन्योन्यचित्तव्यतिषङ्गेन परस्परं वरणं **तथा रसबोधाय वा वरणीयत्वं सम्यग् उदीरितम्** इति अर्थः. 'वा'शब्द एवंभावस्य दुर्लभत्वबोधनाय॥२६॥

भयकामाद्यभावाय भोग्यत्वाय च भर्जनम्॥
दशलीलावबोधाय देवत्वं दुर्लभत्वतः॥२७॥

'**भर्गः**'पदं विवृण्वन्ति भय...इत्यादि. पूर्वोक्तमैत्रश्रुतावेव '**भर्गः**'शब्दस्य द्वितीयपादे अन्वयं बोधयित्वा "**अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन् आदित्ये निहितः तारको अक्षिणीव एष 'भर्गा'ख्यो भाभिर्गतिः अस्य हीति भर्गो भर्जयतीति वै स/वा एष 'भर्ग' इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो अथ 'भ'इति भासयति इमान् लोकान् 'र'इति रञ्जयति इमानि भूतानि 'ग'इति गच्छन्ति अस्मिन् आगच्छन्ति, अस्माद् इमाः प्रजाः तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः**" (मैत्रा.उप.६।७) इति उक्तत्वात् योगिनापि "**भ्रस्ज पाके भवेद् धातुर् यस्मात् पाचयते हि असौ भ्राजते दीप्यते यस्मात् जगच्च/जगद् अन्ते दहत्यपि/हरत्यपि कालाग्निरूपम् आस्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः भ्राजते स्वेन रूपेण तस्माद् भर्ग इति स्मृत**" (बृहद्योगी.स्मृ.९।५२-५४) इति उक्त्वात् श्रुतिस्मृतिव्याख्यातं यद् भर्जनं तद् **भयकामादयो** ये सर्वात्मभावविरोधिनो दोषाः तदभावाय. किञ्च अत्र श्रुत्यादिषु नानानिरुक्तिबोधनेन गुणोपसंहारो बोधितः, तथा सति "**सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा**" (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तभोक्तृत्वार्थं जीवस्य **भोग्यत्वाय** च तत्. अतएव स्मृत्यन्तरे "**भर्जयति अखिलां अविद्याम्**" (   ) इति उक्तम्. इदञ्च अत्र संकर्षणस्य कार्यं, [४]वरणीयत्वं वासुदेवस्य सवितृत्वं प्रद्युम्नस्य लोकवेदप्रसिद्धत्वम् अनिरुद्धस्य इति बोधितं, तेन ब्रह्म-विष्णु-

हरात्मकत्वमपि उक्तप्रायम् अतो न मैत्रश्रुतेरपि विरोधः. **'देव'**पदं हि विवृण्वन्ति **दशइत्यादि**, **"दिवु क्रीडायाम्"** (पाणि.धा.पा.दिवा.१) इति दशविधक्रीडाबोधनाय देवत्वम् उक्तम्. तेन लोकवेदातीतरूपता बोधिता. किञ्च द्युस्थानो भवति इत्यपि निरुक्तेः व्यापिवैकुण्ठस्थायित्वेन **दुर्लभत्वम्** अतो **देवत्वम्** इति अर्थः. एतदेव योगिनापि निरुक्तं **"दीप्यते क्रीडते यस्माद् उद्यते द्योत्यते दिवि तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः"** (बृहद्योगी.स्मृ.९।५४-५५) इति तेन लोकवेदप्रसिद्धः तदतीतः च पुरुषोत्तमएव अत्र प्रतिपाद्यः इति निर्णयाद् अस्या मुख्यविद्यात्वं नतु प्रतीकविद्यात्वम् इति बोधितम्॥२७॥

दशावस्थावबोधाय प्रीतिर्ध्यानं च कीर्तितम्॥
स्वस्यायोग्यत्वतो बुद्धिप्रेरणं ध्रुववन्मतम्॥२८॥

धीमहीइति पदं व्याकुर्वन्ति **दशावस्थ...**इत्यादि, 'वरणीय'पदेन पूर्वं प्रीतिः, **धीमही** इत्यनेन **ध्यानं** च यत् **कीर्तितं** तत् चक्षूरागादिरूपायाः रसस्य दशावस्थाः तदवबोधाय. तथाच एवं मन्त्रार्थम् अवगत्य ध्याने दशापि अवस्थाः सम्पाद्य प्राकृतं रूपं नाशयित्वा तस्य स्वाश्रयप्रत्यापत्तिः भगवता देया इति ज्ञापितम्. तृतीयपादं विवृण्वन्ति **स्वस्य** इत्यादिभिः सार्धैः त्रिभिः **ध्रुववद्** इति. तद् उक्तं **"यो अन्तःप्रविश्य मम वाचम् इमां प्रसुप्ताम्"** (भाग.पुरा.४।९।६) इति ध्रुवेणैव॥२८॥

निरोधसिद्धये धीषु बहुत्वं परिकीर्तितम्॥
जीवे बहुत्वकथनं तत्सम्बन्धिषु सिद्धये॥२९॥

निरोधसिद्धये इति प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकस्वासक्तिसिद्धये. **धीबहुत्वं** सर्वेन्द्रियोपलक्षकं तेन तथा इति अर्थः. **तत्सम्बन्धिषु सिद्धये** इति वृतजीवपरिकरभूतेष्वपि निरोधसिद्धये॥२९॥

नित्यसम्बन्धसिद्ध्यर्थं षष्ठी जीवेशयोर् मता॥
उत्सिक्तभावबोधाय स्वभावत्याजनाय च॥३०॥

स्वभावत्याजनाय इति पूर्वस्वभावस्य निःशेषनिवर्तनाय॥३०॥

वाञ्छाधिक्यज्ञापनाय प्रकर्षः परिकीर्तितः॥
आशीर् अन्ते पूर्णतायै प्रेरणं सर्वतोऽधिकम्॥३१॥

ननु आशिषा कथं पूर्णता इत्यत आहुः **प्रेरणं सर्वतो अधिकम्** इति, एवम्प्रकारकभक्तियोगस्य सर्वेभ्यो अदेयत्वेन एवंप्रेरणाभावाद् अतिकृपयैव प्रेरणम्. एवं विलक्षणवरणकार्यत्वाद् आशास्यम्. अतः तस्यैव सर्वाधिकत्वात् तेनैव पूर्णता इति अर्थः. एवं त्रिपदा गायत्री व्याखाता, यद्यपि अस्याः चतुर्थः पादः काण्वादीनां बृहदारणयके श्राव्यते तथापि अप्राकरणिकत्वात् स प्रकृतोपयोगी न भवति इत्यतो न व्याख्यातः॥३१॥

आपः श्रद्धा धर्ममूलं ज्योतिरप्यस्फुटौ परौ॥
भावास्त्रयो मन्त्रपूर्तौ प्रोक्ता व्याहृतिभिः स्फुटाः॥३२॥

अतः परं शिरो व्याकुर्वन्ति **आप** इत्यादिसार्धेन, तच्च षोडशाक्षरं **"षोडशाक्षरं चैव गायत्र्याश्च शिरः स्मृतम्...'ओम् आपो ज्योतिः' इत्येष मन्त्रो यस्तु प्रकीर्तितः /(षोडशाक्षरकं ब्रह्म गायत्र्याः तच्छिरः स्मृतम्...मन्त्रो यः परिकीर्त्यते)"** (बृहद्योगी.स्मृ.४।८) इति योगियाज्ञवल्क्यात्. तत्र प्रणवस्य अग्रे विवरणीयत्वात् तं विहाय अन्येषाम् अर्थं स्वरूपं च आहुः **आप** इत्यादि. तत्र अपां श्रद्धात्वं छान्दोग्य-बृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायां सिद्धम् अतः **आपः श्रद्धा**, साच **धर्ममूलम्** अश्रद्धया कृतस्य असत्त्वात्, **"अश्रद्धया हुतं दत्तम्"** (भग.गीता १७।२८) इति गीतावाक्यात्. **ज्योतिरपि** धर्ममूलं, सूर्याग्निभ्याम् अन्यैश्च ज्योतिभिरेव

धर्मप्रवृत्तेः. **परौ** "**रसो अमृतम्**" (प्राणाग्नि.उप.१) इति पदाभ्याम् उक्तौ रसामृतपदार्थौ, **अस्फुटौ** गूढार्थौ. तथाच येषां यथा विवक्षितौ तथा तैः ग्राह्यौ इति प्रकृते मुख्याधिकारिणां विवक्षितौ "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) "**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्च अहम् अर्जुन!**" (भग.गीता ९।१९) इति स्मृत्युक्तौ. तत्र धर्मपुरस्कारेण मूलरूपात्मकावेव ग्राह्यौ, **मन्त्रपूर्तौ** शिरोमन्त्रसमाप्तौ, **व्याहृतिभिः** '**भूर्-भुवः-सुवः**' इति तिसृभिः, **त्रयो भावाः** राजस-तामस-सात्त्विक-ऐश्वर्य-वीर्य-श्रीकृताः **स्फुटाः** व्याहृतिवाच्यस्वरूपविचारे प्रकटाएव **प्रोक्ताः** ॥३२॥

दोषाभावाय सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वेन कीर्तनम्॥
नवीनभावजनकः उभयोः रतिवर्धनः ॥३३॥
तस्मात् प्रणव इत्युक्तस्याप्यर्थोऽयमेव हि॥३४॥

तेषु अवादिषु च प्राकृतत्वेन दोषवत्त्वं शंक्येत इति लिंगभूयस्त्वाधिकरणविषयवाक्यसिद्धन्यायेन **दोषाभावाय** मध्ये 'ब्रह्म' पदेन **कीर्तनं**, तथाच शिरोमन्त्रेऽपि प्रकारविशेषेण ब्रह्मैव उच्यते इति अर्थः. अतःपरं प्रणवं विवृण्वन्ति **नवीन**...इत्यादि. तत्र ॐकारः त्रिवृत् परमात्मवाचकः "**ततो त्रिवृद् ॐकारो यो अव्यक्तप्रभवः स्वराट्...स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः**" (भाग.पुरा.१२।६।३९-४१) इति द्वादशस्कन्धवाक्यात्. ईश्वरं प्रकृत्य "**तस्य वाचकः प्रणवः**" (पातं.योग.सू.१।२७) इति पतञ्जलिनापि उक्तत्वात् च. योगिनातु द्वितीयाध्याये तेषां तेषाम् ऋषीणां मतानि उपन्यस्य चतुःषष्टिभेदाः उक्ताः, श्रुतिषु च क्वचिद् एकमात्रो द्विमात्रः इत्येवं षण्मात्रापर्यन्तम् उक्तः. तत्र-तत्र अर्थभेदश्च तस्य उक्तः. तत् सर्वम् अनुपयुक्तत्वाद् अत्र न उच्यते किन्तु "**ॐकारः प्रणवे योज्यः प्रणवं ब्रह्मणि न्यसेत्/तथा आनन्दं (तत्) परमं ब्रह्म/परंब्रह्म तत्प्रविश्य अमृतो/तत्प्राविश्य अमृती भवेद्**" (बृहद्योगी.स्मृ.२।५१) इति योगिवाक्यात् "**ॐकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते... आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते**" (नृ.उ.ता.उप.३)

इति तापनीयश्रुतेः च ॐकारप्रणवौ तुल्योच्चारत्वेपि स्वरूपतो अर्थतश्च भिन्नौ. तत्र समात्रः ॐकारो अमात्रः प्रणवः इति भेदः, आथर्वणानां गोपथब्राह्मणे तथा व्युत्पादनात्. ततश्च 'आप्तेः'-'अवतेः' वा निष्पन्नः समात्रो अव्युत्पन्नस्तु अमात्र इति फलति. गीतायां तैत्तिरीये च **"ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म"** (भग.गीता ८।१३) इति कथनाद् अमात्रः प्रणवएव प्रकृते विवक्षितइति तस्य अर्थः आनन्दामृतरूपएवेति तत्र प्रकटनीयो यः सर्वात्मभावः सो अन्यत्र अप्रसिद्धत्वात् नवीनः. अयञ्च मन्त्रः तज्जनकः प्रकर्षेण नवः यस्माद् इति. योगिनातु **"प्राणनात् प्रणवः स्मृतः"** (बृहद्योगी.स्मृ.२।४४) इति निरुक्तम्. तद् एतद् हृदि कृत्वा आहुः **उभयोः रतिवर्धनः** इति, **"को ह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यद् एष आकाश आनन्दो न स्याद्"** (तैत्ति.उप.२।७) इति तैत्तिरीये ब्रह्मणः प्राणितृत्वं श्रावितं तद् अत्र उभयरतिवर्धनत्वेनैव अभिप्रेतम्. अन्यथा एतद्भावानुदये एकत्रैव उदये वा प्राणनमेव न स्यादिति द्वारत्वाद् अस्य मन्त्रस्य तथात्वम्. अतएव प्रतिव्याहृति प्रतिमन्त्रं च अस्य अभ्यासः सम्पुटीकरणं च अनेनेति एवञ्च यथा सामराजमन्त्रव्याख्याने **"एषएव उग्र एषो ह्येव व्याप्ततमः"** (नृ.उ.ता.उप.५) इत्यादीनां मन्त्रपदोक्तानाम् अर्थानां नृकेसरित्वेन विधानम् उत्तरतापनीये श्राव्यते तथा अत्र सर्वमन्त्रार्थानां प्रणवत्वेन विधानम् इति अभ्यासबीजकथनेन बोधितम्॥३३-३४॥

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ॥
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥३५॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणकृताः श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः समाप्ताः[५]

ननु अयम् अर्थः सर्वत्र कुतो न प्रसिद्धः इति आकाङ्क्षायां श्वेताश्वतरश्रुतिमेव समाप्तौ पठन्ति **"यस्य देवे..."** (श्वेता.उप.६।२३)

इत्यादि. तथाच स्वरूपज्ञानपूर्वकं देवगुरुभजनेन अन्तःकरणस्य वैशद्यरूपे महत्त्वे सत्येव अस्य अर्थस्य प्रकाशो न इतरथा. ज्ञानं च "**यमेवैष**" (कठोप.१।२।२३,मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतेः वरणाधीनम् अतः तदभावात् न सर्वत्र प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥३५॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ॥
यद् अस्फुरत् तद् अलिखत् तद्दासः पुरुषोत्तमः ॥१॥
एतेन श्रीविट्ठलेशप्रभवो दीनवत्सलाः ॥
प्रसीदन्तु सदा दासबाहिर्मुख्यनिवर्तकाः ॥२॥
एष पुष्पाञ्जलिः श्रीमद्बालकृष्णपदाम्बुजे ॥
समर्पितः तद्वचनवनराजिसमुद्भवः ॥३॥
तेन प्रसीदताद् नाथो मादृक्कृपणवत्सलः ॥४॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविचरचितं श्रीमत्प्रभुचरणकृतगायत्र्यर्थप्रकाशकारिकाविवरणं समाप्तम्



॥पाठभेदतालिका॥

१. तदात्मानम् इति अत्र 'स आत्मानम्' इति पाठः क्लृप्त इति दोषम् आरोपयन्तः पश्यन्तु इदम्. २. उद्दिष्टम् इत्यपि पाठः. ३. 'तेजोमध्य' इत्यपि पाठः. ४. इदम् अधिकं क्वचन. ५. आदर्शग्रन्थेषु 'इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितानां हस्ताक्षरेषु लिखितानि एतानि पद्यानि गायत्र्यर्थोपनिबन्धनानि पूर्णानि'इत्युपलभ्यते.

॥ गायत्र्यर्थविवरणम् ॥

(श्रीमठेशेन्दिरेशविरचितम्)

॥ हरिः ॐ भूर्भुवः स्वः ॥
॥ तत्सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥
॥ धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

श्रीवल्लभं नमस्कृत्य तद्वाचं तत्सुतद्वयम् ॥
इन्दिरेशः करोत्येतां गायत्रीविवृत्तिं स्फुटाम् ॥१॥

(ॐ कारार्थविवरणम्)

अथ यजुर्वेदान्तान्तर्गतब्रह्मप्रपाठकीयगायत्रीव्याख्या विव्रियते :

तत्र आदौ ॐ कारस्य वेदमूर्धन्यमणित्वात् षष्ठप्रपाठके प्रणवएव सम्मुखीकृतः. तथाहि "**ॐ इति एतद् अक्षरं चैतत् तस्माद् ॐ इत्यनेन एतद् उपासीत**" (मैत्रा.उप.६।४) इति. अस्य अर्थः : **अनेन** गायत्रीमन्त्रेण सह **एतद् ॐ उपासीत** अनेन ॐ कारस्य मुख्यतः उपासनम् उक्तम्. यद्वा, **अनेन** प्रणवेन **एतद्** वक्ष्यमाणं गायत्रीमन्त्रम् **उपासीत** इति. तत्रापि "**अजस्रम् इति एको अस्य सम्बोधयिता इत्येवं हि आह**" (मैत्रा.उप.६।४) इति श्रुत्या अस्य वक्ष्यमाणस्य अयं प्रणवः सम्बोधयिता इति आह देवः इति अर्थः. एतदग्रे पुण्योक्तिरपि "**एतदेव अक्षरं पुण्यम्, एतदेव अक्षरं परम्, एतदेव अक्षरं ज्ञात्वा यो यद् इच्छति तस्य तद्**" (मैत्रा.उप.६।४) इत्यनेन रहस्यमेव फलम् उक्तम्. किञ्च वेदमूर्धन्यमणौ प्रणवे सर्वदेवादिसमासध्यानमपि "**अथ ब्रह्मा रुद्रो विष्णुः इति अधिपतिमति एषा**" (मैत्रा.उप.६।५) इत्यादि, "**ऋग्यजुःसाम इति विज्ञानवति एषा**" (मैत्रा.उप.६।४) "**गार्हपत्यो दक्षिणाग्निः आहवनीयइति मुखवति एषा**" (मैत्रा.उप.६।५) इति सर्ववेदाग्निदेवालम्बनरूपा इयम् अक्षरत्रयी 'प्रणवा'ख्या इति अर्थः.

(व्याहृत्यर्थविवरणम्)

प्रणवोच्चारणानन्तरं "**भूर्भुवस्स्वर्**" इति उच्चारणञ्च यथा प्रपाठके, "**अथ भूर्भुवःस्वः इति लोकवति एषा... अथ भूतं भव्यं भविष्यद् इति कालवति एषा... अथ प्राणो अग्निः सूर्यः इति प्रतापवति एषा**" (मैत्रा.उप.६।५) इत्यादि प्राणापानव्यानबुद्धिमनोरूपा इयम् अक्षरत्रयपूर्विका गायत्रीव्याहृतिः इति अर्थः.

('गायत्री'पदनिरुक्तिविवरणम्)

तत्र 'गायत्री'त्यस्य निरुक्तिः अग्निपुराणे कथ्यते तथाहि :

"गायत्र्युक्थानि शास्त्राणि भर्गः प्राणान् तथैव च।
ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्री अतएव च॥
प्रकाशिनी सा सवितुः वाग्रूपत्वात् सरस्वती।"
(अग्नि.पुरा.२।६।१-२)

एतानि गायतीति **गायत्री**, त्रयीमयस्य (**सवितुः**) **प्रकाशिनी** ज्ञापिका तस्मात् सावित्री. **वाग्रूपत्वात् सरस्वती** इति अर्थः. अतो गायत्र्याएव तद्रूपमिति ब्रह्मवत्.

(तदभेदेन व्याहृत्यर्थविवरणम्)

एवं 'गायत्री'पदस्य निरुक्तिं प्रतिपाद्य पूर्वोक्तप्रपाठकीयविवृत्तिद्वारेणैव अग्रिमं तम् अर्थम् आहः. तत्र प्रवणेन अभेदम् उक्त्वा व्याहृतिभिः अभेदं विशेषेण आह.

तथाच प्रपाठके :

"अथ व्याहृतं वा इदम् आसीत्. स सत्यं प्रजापतिः तपः तप्त्वा अनुव्याहरद् 'भूर्भुवःस्वर्' इति. एषाहि एव

अस्य प्रजापतेः स्थविष्ठा तनुः या लोकवति. स्वर् इत्यस्याः शिरो. नाभिः भुवो. भूः पादा. आदित्यः चक्षुः. चक्षुरायत्ता हि पुरुषस्य महतो मात्राः, चक्षुषा हि अयं मात्राः चरति. सत्यं वै चक्षुः अक्षिणि अवस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु चरति. एतस्माद् 'भूर्भुवस्स्वर्' इति उपासीत''.

(मैत्रा.उप.६।५).

इत्यनेन **''प्रजापतिः विश्वात्मा विश्वचक्षुरेव उपासितो भवति इत्येवं हि आह वै प्रजापतेः विश्वभृत् तनूः एतस्याम् इदं सर्वम् अन्तर्हितम् अस्मिंश्च सर्वस्मिन् एषा अन्तर्हितेति तस्माद् एताम् उपासीत''** (मैत्रा.उप.६।६) इति श्रुत्या अभेदोक्तेः.

(पुनः गायत्रीमन्त्रार्थविवरणम्)

एवम् अभेदेन सर्वत्र ब्रह्मस्फूर्त्या आश्रिततत्वम् उक्त्वा गायत्रीमन्त्रार्थम् आह अग्रे प्रपाठके. तत्र को वा सविता? किं वरेण्यम्? इति आकांक्षायां निश्चित्य तद् आह.

यथाच श्रुतिः :

'तत्सवितुः वरेण्यम्' इति असौ वा आदित्यः सविता सवा एवं प्रवरणीयः आत्मकामेन इति आहुः ब्रह्मवादिनः. अथ 'भर्गो देवस्य धीमहि' इति सविता वै देवः ततो यो अस्य भर्गाख्यः तं कं चिन्तयामि इति आहुः ब्रह्मवादिनः. अथ 'धियो यो नः प्रचोदयाद्' इति, बुद्धयो वै धियः ताः यो अस्माकं प्रचोदयाद् इति आहुः ब्रह्मवादिनः. अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन् आदित्ये निहितः

तारको अक्षिणि वा एषो भर्गाख्यो भाभिः गतिः अस्य हि इति भर्गो भर्जयतीति वा एषो भर्गः इति रुद्रो ब्रह्मवादिनः. अथ 'भ' इति भासयति इमान् लोकान् 'र' इति रञ्जयति इमानि भूतानि 'ग' इति गच्छन्ति च अस्मिन् आगच्छन्ति च अस्माद् इमाः प्रजाः. तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः शश्वत् सूयमानत्वात् सूर्यः. सवनात् 'सविता'. आदानाद् 'आदित्यः'. पवनात् 'पवनः'. अथ आप आप्यायनाद् इत्येवं हि आह खलु आत्मनाम् आत्मा... 'अमृता'ख्यः चेता मन्ता गन्ता उत्सृष्टा आनन्दयिता (कर्ता) वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पर्शयिता च बिभर्ति अदो त्रिविष्टपो विग्रहे संनिविष्टः".

(मैत्रा.उप.६।७).

इत्यादौ सर्वात्मा परमात्मैव सविता इति तद् भर्ग इति निश्चित्य अग्रे अन्यनिराकरणपूर्वकं परमात्मनमेव सर्वरूपम् अभिजानाति इति आह श्रुतिः. तत्र द्वैताभासं निगद्य परमात्मस्वरूपं निगदति उपदिशतीति, **"अथ यत्र द्वैतीभूतं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति सर्वम् आत्मा जानाति इति यत्र अद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनम् अनौपम्यं निरुपाख्यं किं तद् अवाच्यम्"** (मैत्रा.उप.६।७) इति स्वरूपं यथाशक्तित्वेन उक्त्वा तत्र देवतारूपभेदे **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुत्यन्तरसामानाधिकरण्येन ब्रह्मणो अभेदमेव उपपादयति श्रुतिः.

"सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुः नारायणो अर्कः" (मैत्रा.उप.६।८) इति तन्नामानि निर्दिश्य तत्तदेव रूपत्वमपि तस्यैव न तद्व्यतिरिक्तं किञ्चित्. तदेव सर्वरूपम् इति निरूपयति श्रुतिः **"अथ अर्कः सविता धाता सम्राड् इन्द्र इन्दुः इति य एष तपति अग्निः (वा अग्निना)**

पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेन अण्डेन, एष वाव जिज्ञासितव्यो अन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्यो अभयं दत्वा अरण्यं गत्वा बहिष्कृत्य/वा व बहिःकृत्वा इन्द्रियार्थान् स्वात् शरीराद् उपलभेत एनम् इति विश्वरूपं हिरण्यं जातवेदसं परायणं ज्योतिः एकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयति एषः सूर्यः'' (मैत्रा.उप.६।८) सो अयं विष्णुः नारायणइति अभेदं तन्मध्यवर्तित्वेन व्यतिरेकेणेव उपदिशति इति अर्थः. एवम् अभेददर्शनेन पूर्वोक्तदेवस्य विष्णोः परमात्मानः 'दिवु'धातोः तेजोऽर्थकत्वाद् ज्योतीरूपस्य सवितुः इति वेदोक्तनिरुक्त्या तत्तद्रूपेण वा सवितुः **'' 'षूङ्' प्राणिप्रसवे''** (पा.धा.पा.दिवादि.११५७) इति धातोः, तस्य तद्भर्गः तं भर्गं धीमहि इति तद् अव्ययत्वाद् अनियतलिंगविभक्तित्वं, **''नित्यं शुद्धं बुद्धम् एकं ध्येयं भर्गम् अधीश्वरम् अहं ब्रह्म परं धाम ध्यायेमहि विमुक्तये''** (अग्निपुरा.२।६।६-७) इति अग्निपुराणोक्तेः. अत्र जापकस्य एकत्वेऽपि बहुवचनत्वं बहुवचनक्रियाव्यपेक्षया, श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते सनत्कुमारवचनात्. अथ एवं 'भर्ग'शब्दस्य अदन्तत्वे सिद्धे मन्त्रेऽपि एवं व्याख्येयम्. तेन **''सुपां सुलुग्''** (पाणि.सू.७।१।३९) इति छान्दसेन सूत्रेण द्वितीयैकवचनस्य आमः सुत्वादेशात् तत्सिद्धिः. अतएव य एतदग्रे पुंल्लिंगकः, ततो **''भर्जयति अखिलाम् अविद्याम्''** (   ) इति श्रुत्युक्तनिरुक्त्या तेजोमयरूपमेव ध्येयम्. वेदोक्तनिरुक्त्यन्तरेणापि तेजोमयरूपत्वस्यैव कथनम् इति ज्ञायते अनेन शाक्तत्वशंकापि निरस्ता.

(गायत्र्युपासने शाक्तत्वशंकानिरसनम्)

अथ शाक्तत्वं नाम शक्त्युपासकत्वं तज्जन्यत्वं वा? न अन्त्यः तथाप्रसंगनिरूपणाभावाद्. न आद्यः, सेव्यस्य तद्रूपत्वानुक्तेः. अथ उपासनमपि कस्य तावद् गायत्र्याः तत्प्रतिपाद्यदेवस्य वा? न आद्यः, तस्य मन्त्ररूपतया अक्षरसन्दोहमयत्वाद्. नान्त्यः इति वक्तुं न शक्यते,

इष्टापत्तेः, ततत्प्रतिपाद्यएव परमात्मा श्रुतिप्रतिपाद्यो विष्णुरिति तदुपासने न शाक्तत्वशंका इति सर्वं समञ्जसम्.

प्रस्तुतम् आह, कीदृशं भर्गं? वरेण्यं श्रेष्ठं वरणीयं च. नच विधेः अनुपलम्भः इति वाच्यं, वेदे **'उपासीत'** (छान्दो.उप.३।१४।१) इति कथनात्, तेन वरणीयम् इति सुष्ठूक्तम्. श्रेष्ठार्थतापक्षेतु सर्वेषां तेजसां प्रकाशकानां प्रकाशकत्वेन प्रकाशकत्वम् इदमपि सम्यक्. यद्वा भर्गस्य रूढ्या श्रेष्ठत्वम् उक्त्वा योगवृत्त्या सर्वतः प्रार्थनीयतां दर्शयति वरणीय इति, वृणोतेः वरणार्थत्वात्. एवं ज्ञात्वा तं **धीमहि** ध्यायेम इति अर्थः. अत्र एकवचनविवक्षायां बहुवचनम् आर्षत्वाद् उपपन्नं, प्रपाठके च एतादृशार्थदर्शनात्. तथाहि **"अथ भर्गो देवस्य धीमहि इति सविता वै देवः ततो यो अस्य भर्गाख्यः तं चिन्तयामि इति आहुः ब्रह्मवादिनः"** (मैत्रा.उप.६।७). यद्वा **धीमहि** इति न केवलम् अहमेव ध्यायेयं किन्तु सर्वएव वयं जीवाः ध्यायेमः इति सर्वोपकारत्वेन ध्यानार्थः **धीमहि** इति छान्दसं रूपम्. यद्वा बहुवचनांगीकारे **धीमहि** इत्यस्य धात्वन्तरप्रकृतत्वेन धारणार्थमेव इति वक्तव्यं, दधातेः **धीमहि** इति मनसा धारयेमहि इति अग्रिमोक्तदर्शनात्. तत्रच 'अहम्' इति कर्तृपदोपलम्भनवशाद् अयमेव अर्थः साधीयान् इत्यपि युक्तिं दर्शयति तद् असत्, गायत्रीमन्त्रे तथा यौक्तिकव्याखानासम्भवात्. 'धी'त्यस्य पदत्वाघटनात् च.

इदानीं प्रपाठकानुसारेण अग्रिमम् अर्थं व्याचक्षते : **"अथ धियो यो नः प्रचोदयात्** इति बुद्धयो वै धियः ता **नः** अस्माकं **प्रचोदयात्** इति आहुः ब्रह्मवादिनः इति. तं कीदृशम्? इति अपेक्षायां तत्कार्यविशेषणम् आह. यत्तदोः नित्यसम्बन्धः, यो **भर्गः** 'भर्ग'शब्दवाच्यं पूर्वोक्तं यत् तेजोरूपं, **नो** अस्माकं बहुवचनम् अत्र पूर्वोक्ताभिप्रायेणैव, **धियो**

बुद्धीः प्रेरयेद् इति सम्बन्धः. अत्र बहुवचनं वृत्त्यभिप्रायेण. **वरणीयम्** इति **"तन्वादीनां वेयङुवङौ"** (द्रष्ट. : पाणि.सू.६।४।७७) इति छान्दससूत्रेण वैकल्पिके यङा सिद्धं रूपम्. तेन चतुर्विंशत्यक्षरत्वमपि इति. किञ्च **"ब्रह्मवादिनः इत्याहुः"** (मैत्रा.उप.६।७) इत्यादि यद् उक्तं प्रपाठके तस्य अयं भावः **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१), **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्"** (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिश्रुतिसहस्रैः ब्रह्मातिरिक्तं किमपि नास्तीति यद् दृश्यते "ॐ तद् सद् ब्रह्म" इति (ये) वदन्ति विबुधाः तएव ब्रह्मवादिनः शुद्धाः. अतो अत्र प्रपाठके सूर्यरुद्रेन्दुशक्रादिदेवेष्वपि ब्रह्मरूपतैव नहि ब्रह्मातिरिक्ताः ते इति अभेदोक्त्यैव ब्रह्मवादो निर्वृत्तः इति ज्ञायते.

इदन्तु श्रीमदाचार्यचरणादिभिः विशेषतः स्वग्रन्थेषु दर्शितमेवेति उपरम्यते. मया ब्रह्मवादमतदीपिकायां व्याख्याने ब्रह्मवादएव सर्वशास्त्रसिद्धतया दृढीकृतो दर्शितः इति ग्रन्थविस्तारभिया न अत्र लिख्यते इति अलम्.

अन्यथा 'ब्रह्मवादिनः' इति पदं प्रपाठके सम्मततया प्रदत्तं वैयर्थ्यम् आपद्येत, अतो ज्ञायते श्रुतिरपि विप्रतिपद्यमानत्वेन दृश्यमानान् देवान् स्वमतसात्करोतीति अन्ते च नारायणएव मूलतो निर्धारितः **"सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुः नारायणः"** (मैत्रा.उप.६।८) इति उक्त्वा **"यत्र अद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तम्"** (मैत्रा.उप.६।७) इत्यादिना, तेन सर्वं ब्रह्म न तदतिरिक्तं किञ्चित्, अतएव श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे **"यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद् यो यथा कुरुते कार्यते वा/च"** (भाग.पुरा.६।४।३०) इति **"स सर्वनामा सच विश्वरूपः"** (भाग.पुरा.६।४।२८) इति च, अनेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपत्वमेव उक्तं दर्शितं च इति अलम् अतिकथनेन.

(गायत्र्याः पुष्टिमार्गे भावनीयः अर्थो)

अथवा गायत्र्याः अयम् अर्थो ज्ञानमर्यादया उक्तो भक्तिपुष्ट्या तद् आह तत्र रासलीलामध्यगतश्रीनन्दनन्दनस्य कृष्णस्य ध्यानम् उच्यते, **सवितुः** रसप्रसवितुः अलौकिकरसोत्पादकस्य **"रसो वै सः रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दीभवति"** (तैत्ति.उप.२।७) इत्युक्तो रसः **तत्सवितुः** तस्य **देवस्य** रासक्रीडाकर्तुः, 'दिवु'धातो प्रथमं क्रीडार्थस्य उपात्ततया मुख्यं तदर्थकत्वमिति. अतः एतादृशस्य कृष्णस्य तत् प्रसिद्धं, तं वा, भर्जयति अविद्यादीनि इति तथाभूतं रूपं ध्यायेम इति सम्बन्धः. निजदर्शनस्य अविद्यादिकामभर्जकत्वं स्वेनैव उक्तम्. तथाच श्रीभागवते दशमे **"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय न इष्यते"** (भाग.पुरा.१०।१९।२६) इति. इदानीं तद्रूपस्य असाधारणधर्मम् आह यो अस्माकं जीवानां **धियो** बुद्धिवृत्तीः **प्रचोदयात्** क्षोभिताः कुर्यात्. यद्वा **धियः** इति बहुवचनं चतुर्विधान्तःकरणाभिप्रायेण वा. यद्वा यः इति श्रीकृष्णविशेषणेन यो अस्माकं मनसः क्षोभकः तस्य **सवितुः भर्गं** ध्यायेम इति बहुवचनं सर्वेन्द्रियाभिप्रायेण वा. यद्वा यो अस्मन्मनसः क्षोभकः तद्रसोत्पादकस्य **भर्गं** ध्यायेम इति. यद्वा रासमध्ये देवस्य द्योतमानस्य भर्गं ध्यायेम इति. एवम् अनेकधा व्युत्पादनेन सर्वेषाम् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां श्रीकृष्णे भगवति समन्वयइति तेन ध्यानमेव निर्दिष्टं, **"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"** (भाग.पुरा.१।३।२८) इति प्रथमे, **"आद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि"** (भाग.पुरा.११।२९।४९) इति एकादशे. उक्तञ्च श्रीवल्लभाचार्यचरणैः **"आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्"** (सिद्धा.मुक्ता.१६) **"स्मर्तव्यो गोपिकावृन्दे क्रीडन् वृन्दावने स्थितः"** (द्रष्ट. : श्रीद्वार.भावभा.सेव्यस्व.-निर्ण.) इति च, **"ज्ञानाधिको भक्तिमार्गः"** (सिद्धा.मुक्ता.१९) इति च, पुनः **"ज्ञाने प्रयासम् उदपास्य नमन्त"** (भाग.पुरा.१०।प्रक्षि. ३।३) इति तात्पर्येण भक्तिपक्षीयार्थस्य अवसरत्वाद् अयमेव अर्थः शोभनं

इति अलं प्रागल्भ्येन.

आम्नायामृतसिन्धुमन्थनपरैः व्यासैः सुरर्ष्याज्ञया,
श्रीमद्भागवतादिमान्तिम-लसत्पद्याग्नयोः(?!) भावुकैः ॥
गायत्रीप्रतिपाद्यरूपम् अमलं नीलं महो दर्शितं,
रे रे ध्यायत माऽऽयतान्धविवरं यातुं कुरुध्वं मनः ॥२॥

श्रीवल्लभपदाम्भोजमधुमत्तहृदा मया ॥
य उद्गारः कृतस्तन्तु क्षन्तुम् अर्हन्तु सूरयः ॥३॥

इति श्रीमदीश्वरश्रीवल्लभचरणानुचरेण इन्दिरेशेन
कृतं गायत्र्यर्थविवरणं समाप्तम्



॥ गायत्र्यर्थः ॥

(भारतमार्तण्डवेदान्तभट्टाचार्यगोवर्धनभट्टविरचितः)

॥ हरिः ॐ भूर्भुवः स्वः ॥
॥ तत्सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥
॥ धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

परं ब्रह्म निजाचार्यान् विठ्ठलेशान् गुरून् नमन्॥
तदुक्तं व्याहृतिशिरोगायत्र्यर्थं लिखाम्यहम्॥१॥

(जपांगभूरादिव्याहृतित्रयव्याख्यानम्)

तत्र भूरादिषु सप्तव्याहृतिषु **भूर्भुवःस्वः** इति तिस्रएव प्रणवपूर्विका जपे पठ्यन्ते. अकारादिप्रणवमात्रात्रयस्य भूरादिव्याहृतित्रयस्य गायत्रीपादत्रितयस्य च समानकारणकत्वात्.

तथाच मनुः **"'अ'कारं चापि 'उ'कारं च, 'म'कारं च प्रजापतिः वेदत्रयाद् निरदुहद् भूर्भुवःस्वर् इति च"** (मनुस्मृ.२।७६) **"त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः पादं-पादम् अदूदुहत् तदिति ऋचो अस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः"** (मनुस्मृ.२।७७) इति समानकारणकत्वम् अभिधाय अनुपदं प्रणवव्याहृतित्रययुक्तायाएव जप्यत्वम् आह **"एतद् अक्षरम् एतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् सन्ध्ययोः वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते"** (मनुस्मृ.२।७८) तथा अग्रेऽपि **"ॐकारपूर्विकाः त्रिस्रो महाव्याहृतयो अव्ययाः त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्"** (मनुस्मृ.२।८१) इत्ति.

किञ्च भूरादित्रिलोक्याः साधनम् अग्निवाय्वादित्यानाम् ऋक्सामय-

जुषां स्मरणस्वीकरणे प्राणापानव्यानानां शोधनं च व्याहृतित्रयेणैव सम्पत्स्यतइति तदर्थमपि गायत्र्यादौ जपे व्याहृतित्रयग्रहणम्.

प्रणवग्रहणन्तु "**स्रवति अनोङ्कृतं ब्रह्म/पूर्वम्**" (मनुस्मृ.२।७४) इति श्रुतिस्मृत्योः तत्त्यागे नैष्फल्याभिधानात्. व्याहृतीनां लोकाद्युक्तचरार्थ-कत्वन्तु तैत्तिरीयाणां शिक्षोपनिषदि "**'भूः'इति वा अयं लोको 'भूः'इति वा अग्निः 'भूः'इति वा ऋचः 'भूः'इति वै प्राणः**" (तैत्ति.उप.१।५।१-३) इत्यादिना स्फुटम् आम्नातम्. एतासां व्याहृतित्वन्तु निरुच्यते योगिना "**भूर्भुवःस्वः तथा पूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयः स्मृताः**" (बृहद्योगी.स्मृ.३।९) तथाच "**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भूवर्लोको अस्य नाभितः स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना**" (भाग.पुरा.२।५।४२) इति भागवतोक्तं पक्षम् आश्रित्य व्याहृतित्रयेणैव लोकात्मकं सकलं भगवद्रूपमपि गायत्र्यारम्भे स्मृतं भवति.

अथ प्रणवसंमिश्रिततया व्याहृतीनाम् अर्थांगीकारेतु **ॐ भूर्भुवःस्वः** इति पूर्वोक्ता भूराद्यर्थाः सर्वे ॐ ब्रह्मैव इति अर्थः.

(प्राणायामांगभूरादिसप्तव्याहृतिव्याख्यानम्)

प्राणायामेतु "**भूः भुवः सुवः महः जनः तपः सत्यम्**" इति सप्त व्याहृतयः, "**सप्तव्याहृतिपूर्वान्तु गायत्रीं शिरसा सह त्रिः पठेद् आयतप्राणः प्राणायामः स उच्यते**" (अमृ.ना.उप.११) इति स्मरणात्.

अथ एतासाम् अर्थो निरूप्यते.प्रणवन्तु अग्रे व्याख्यास्यामः. तत्र एतासां प्रसिद्धो अर्थस्तु भूरादयो ब्रह्मलोकान्ताः सप्तलोकाः तेषां **ॐ भूर्भुवःस्वः** इत्यादिप्रणवपूर्वकनिर्देशात्. प्रणवस्यच "**'ॐ' 'तत्' - 'सद्' इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः**" (भग.गीता १७।२३) इति

स्मृत्या ब्रह्मवाचकत्वात् ब्रह्मैव भूः अयं लोकः, ब्रह्मैव भुवः अन्तरिक्षलोकः एवं सप्तानाम् उत्तमलोकानां ब्रह्मरूपत्वं वाक्यसप्तकत्वेन अभिधीयते. एवं ध्यानाच्च सत्त्वशुद्धौ उत्तमलोकप्राप्तिः **"तदा उत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते"** (भग.गीता १४।१४) **"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः"** (भग.गीता १४।१८) इत्यादि स्मरणेभ्यः.

किञ्च तत्त्वे विमृश्यमाने भूरादिषड्व्याहृतिभिः ऐश्वर्यादयो 'भगवच्'छब्दाभिधेयाः षड् गुणाः सप्तम्या च धर्मिस्वरूपम् अभिधियते इति अवगम्यते. ते गुणास्तु विष्णुपुराणे निर्दिष्टाः **"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग'इति ईरणाद्"** (विष्णुपुरा.६।५।७४). तत्र 'भूः'इति प्रथमम् ऐश्वर्यम् उच्यते, भुवः सर्वाधारत्वात्. **"गाम् आविश्य च भूतानि धारयामि अहम् ओजसा"** (भग.गीता १५।१३) इति, **"यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः"** (भग.गीता १५।१७) इति धारणस्य ईश्वरधर्मत्वात्. 'भुवः'इति वीर्यं बोध्यते, **"'भुवः' इति अन्तरिक्षम्"** (तैत्ति.उप.१।५।१) इति श्रुत्या अन्तरिक्षवाचकत्वात्. **"(ते) अन्तरिक्षम् अजयद्"** (तैत्ति.संहि.५।-३।११।१) इति श्रुत्या तस्य रुद्रप्रभुकत्वावगमात्, **"रुद्रान् वीर्यकामो अथ वीर्यवान्"** (भाग.पुरा.२।३।३) इति द्वितीयस्कन्धीयवाक्येन तस्यापि रुद्रप्रभुकत्वावधारणात्. **सुवः** इति श्रीः, स्वर्गपर्यायित्वात्, तैत्तिरीयाणां सप्तमाष्टके द्वात्रिंशद्रात्रसत्रप्रसंगे **"श्रीः हि मनुष्यस्य...स्वर्गो/सुवर्गो लोक"** (तैत्ति.संहि.७।४।२।१-६) इति आम्नानात्. भगवत्सेवकानां देवानां तत्र उत्कर्षादपि तस्य श्रीत्वम् उचितं, **"श्रीयो हि परमा काष्ठा सेवकाः तादृशा यदि"** (सुबो.१०।१८।११/२४) इति तल्लक्षणात्. **महः** इति यशः, लोक-शास्त्रयोः तस्य श्र्यपेक्षया उत्तमत्वात्. महर्लोकस्यापि भगवद्यशोंशरूपत्वात्, यशःप्रकाशेनैव तेजोमयत्वम् अतएव **"महः पुच्छं प्रतिष्ठा"** (तैत्ति.उप.२।४) इति मुक्तजीवप्रतिष्ठात्वं तस्य

श्राव्यते. जनः इति वैराग्यं तापापहत्वात्, **"यान्ति उष्मणा महर्लोकाद् जनं भृग्वादयोर्दिताः"** (भाग.पुरा.३।११।२९) **"जनं प्रयान्ति तापार्ताः महर्लोकनिवासिनः"** (विष्णुपुरा.१।३।२३) इत्यादिवाक्येभ्यः, **"स्वायम्भुव-ब्रह्मसत्रं जनलोके अभवत् पुरा"** (भाग.पुरा.१०।८४।९) इत्यादिप्रसंगेषु तत्र वैराग्योत्कर्ष-संसारतापहानयोरपि अवगमात् च. 'तपः' इति ज्ञानं **"यः सर्वज्ञः यः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः"** (मुण्ड.उप.१।१।९) इति आथर्वणानां प्रथममुण्डके श्रवणात्. आनन्दवल्ल्यां **"स तपो तप्यत"** (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादावपि तथा अंगीकारात् च. 'सत्यम्'इति धर्मीभूतं परं ब्रह्म **"सत्यं परं परं सत्यम्"** (महाना.उप.२१।१) इति बृहन्नारायणोपनिषदि आम्नानात्. **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप.२।१) सत्यं **"विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म"** (बृह.उप.३।९।२८) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः च. द्वितीयस्कन्धे भूरादिलोकानां तत्तद्भगवदवयवत्व-स्मरणात् प्रकृतेऽपि उदितरीत्या सर्वेषां ब्रह्माभेदबोधनात् च सर्वम् अनवद्यम्.

(गायत्र्यर्थव्याख्यानम्)

अथ गायत्री व्याख्यायते. तत्र उत्तानार्थस्तु '**सवितुः** जगज्जन्मादिकारणस्य **देवस्य** विविधसर्गादिक्रीडावतः सर्वज्ञस्य **तद्** लोक-वेदप्रसिद्धं, **वरेण्यं**=वरणीयं **भर्गः** अविद्याभर्जकं स्वरूपं **धीमहि** ध्यायेम **यो** देवः **नो** अस्माकं **धियो** बुद्धिं तदुपलक्षितसर्वेन्द्रियाणि च **प्रचोदयात्** प्रकृष्टरीत्या प्रेर्याद् इति आशीः.

(पदानां सप्रमाणो अर्थः)

अथ प्रतिपदं सप्रमाणो अर्थः : तत्र सर्वनाम्नां बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात् 'तदः' प्रसिद्धार्थकत्वात् च '**तद्**' इति लोक-वेदप्रसिद्धम् **"अतो अस्मि लोके वेदे च प्रसिद्धः पुरुषोत्तमः"** (भग.गीता १५।१८) इति

गीतोक्तं परब्रह्मरूपम् उच्यते. एतदेव भागवतारम्भे "**सत्यं परम्**" (भाग.पुरा.१।१।१) इति निर्दिष्टं 'सत्यम्' इति लोके 'परम्' इति वेदे प्रसिद्धेः.

'**सवितृ**' पदमपिईश्वरपरमेव, शास्त्रोक्त-निरंकुश-जगत्कारणस्वरूप-ब्रह्मलक्षणस्य उत्तरमीमांसायां द्वितीय-तृतीयाधिकरणयोः साधनात्. "**तस्माद् वा एतस्माद्**" (तैत्ति.उप.२।१), "**यतो वा इमानि भूतानि**" (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः च. सूर्येऽपि "**ज्योतिषां रविर् अंशुमान्**" (भग.गीता ११।२१) इति तदंशतयैव तत्त्वप्रसिद्धेः च. "**आदित्यमण्डलान्तस्थं परं ब्रह्म अधिदैवतम् छन्दोनि(भि)वृत्त्या गायत्री मया दृष्टा सनातनी**" (द्रष्ट. : वैखा.गृ.सू.ता.चि.१।३।८) इति स्मृत्यन्तरेणापि गायत्र्याः नारायणपरत्वं तत्परत्वञ्च बोध्यते.

'**वरेण्यम्**' इति, वरणीयं "**तत्सवितुर्वरेण्यम् इति असौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय आत्मकामेन इति आहुः ब्रह्मवादिनः**" (मैत्रा.उप.६।७) इति मैत्रश्रुतेः, "**वरेण्यं वरणीयन्तु जन्मसंसारभीरुभिः**" (बृहद्योगी.स्मृ.९।५६) इति योगिस्मरणात् च. तेन "**यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः**" (कठोप.१।२।२३, मुण्ड.उप.३।२।३) इति कठमुण्डकयोः श्रावितदिशा लाभो बोधितः. निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वादपि वरेण्यत्वं निर्विवादम्.

भर्गः इति अविद्याभयकामादिभर्जकं तेजः, "**भर्जयति अखिलाम् अविद्याम्**" (   ) इति स्मरणाद्, मैत्रश्रुतौ "**अथ भर्गः इति यो ह वा अमुष्मिन् आदित्ये निहितः तारको अक्षिणी वा एषः 'भर्गा'ख्यो भाभिः गतिः अस्य हीति भर्गो, भर्जयति इति वा एषः भर्गः इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो. अथ 'भ' इति भासयति इमान् लोकान्**

'र'इति रञ्जयति इमानि भूतानि, 'ग'इति गच्छन्ति अस्मिन् आगच्छन्ति अस्माद् इमाः प्रजाः. तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः" (मैत्रा.उप.६।७) इति उक्तत्वात् च. एतेन प्रतिबन्धकभर्जनात् **सो अश्नुते सर्वान् कामान्"** (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिप्रतिपादितमोक्षसिद्धिः सूचिता. **'भर्गः'**शब्दश्च अयं सान्तः, अदन्तत्वे हि **धीमहि** इत्येत्कर्मत्वानुपपत्तेः.

शिष्टास्तु **'सवितृ'-'वरेण्य'-'भर्ग'**शब्दैः ब्रह्म-विष्णु-रुद्रात्मकत्वमपि उक्तप्रायम् इति आहुः.

देवस्य इति क्रीडाद्यर्थक'दिवु'धातुनिष्पन्नत्वात् (द्रष्ट. : 'दिवु' क्रीडायां : पाणि.धा.पा.दिवा.१) **"अत्र सर्गो विसर्गश्च"** (भाग.पुरा.२-।१०।१) इत्यादिना भागवतोक्तदशविधलीलावैशिष्ट्यं यथायोग्यं धर्मान्तरे **"द्युस्थानो भवति"** (निरुक्त.७।२) इत्यपि निरुक्ते व्यापिवैकुण्ठस्थायित्वं च **'देव'**शब्देन संगृहीतम्. अतएव योगिनापि उक्तं **"दीप्यते क्रीडते यस्माद् उद्यते द्योतते दिवि तस्माद् 'देवः'इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः"** (बृहद्योगी.स्मृ.९।५४-५५) इति.

धीमहि इति ध्यानस्य **"ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"** (मुण्ड.उप.३।८) इति मुण्डकादिश्रुतिषु, **"ध्येयः सदा"** (आदि.हृद.९-३८) इत्यादिस्मृतिषु च मुख्यसाधनत्वाभिमानात्. तदेव उक्तं तृतीयपादे जीवस्य स्वतोयोगित्वाद् ध्रुवादिवद् बुद्धिप्रेरणं प्रार्थ्यते. ध्रुवादीनामपि **"यो अन्तःप्रविश्य मम वाचम् इमाम्'** (भाग.पुरा.४।९।६) इत्यादौ तत्प्रसिद्धप्रपञ्चविस्मरणपूर्वकभगवदासक्तिसिद्धये 'धी'शब्दोपलक्षितसर्वेन्द्रियप्रेरणं प्रार्थ्यते. बहुवचनान्यथानुपपत्त्या उपलक्षकत्वावगमः.

वाञ्छाधिकफलदानबोधनाय **प्र**शब्दः, प्रेरणस्यापि दुर्लभत्वाद्

आशीरर्थक लकारप्रयोगः, अनया विधया सूचिसूत्रन्यायेन भगवति चित्तं निवेश्यते इति **ज्योतिश्चरणाधिकरणे** (ब्र.सू.१।१।२३) निरणायि श्रीबादरायचरणैः.

अथ **ॐ आपो ज्योतिः रसो अमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वर् ॐ** इति गायत्रीशिरः, तस्य अयम् अर्थः : 'आपः' श्रद्धा, छान्दोग्य-बृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायां निष्कामज्योतिष्टोमादिकर्तॄणां मोक्षार्थशरीरोत्पादकसंस्कृतपञ्चभूतोपलक्षिकाः प्रसिद्धाः. इदञ्च चतुर्लक्षण्यां तृतीयाध्यायप्रथमपादारम्भे स्फुटम्. तथा लौकिकान्यपि जलानि शुद्धिजनकानि धर्मसाधनानि 'आप'इतिपदेन संगृह्यन्ते. 'ज्योतिः' तादृशाधिकारिणां क्रममुक्तौ प्राप्यं वैद्युतादिलोकरूपम्. तथा रात्रौ दिवसे च धर्मसाधनम् अग्निसूर्यादिरूपं तेजोऽपि अत्र 'ज्योतिः'शब्देन संगृह्यते. आपो ज्योतिश्च ब्रह्मैव. एतेन धर्मसाधनानां निष्कामधर्मस्य अवान्तरफलानां च ब्रह्मत्वम् उक्तम्. परमफलस्यापि तत्त्वम् आह **रसो अमृतं ब्रह्म** इति "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतौ निर्दिष्टः "**यतो वाचो**" (तैत्ति.उप.२।९) इति अग्रिमवाक्ये वाङ्मनसा अप्राप्यत्वाद् अगणितत्वेन दर्शितो यः आनन्दः. तथा **अमृतं** वेदादिषु मरणादिधर्मरहितत्वेन श्रूयमाणं यद् वस्तु तदपि ब्रह्मैव, "**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्**" (तैत्ति.उप.३।६) "**अमृतं चैव मृत्युः च**" (भग.गीता ९।१९) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः. '**रस**'पदेन आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वम् 'अमृत-'पदेन प्राकृतधर्मराहित्यं च बोधितम्. तथा 'भूर्भुवःसुवः' इति व्याहृतित्रयनिर्दिष्टाः शिक्षोपनिषत्प्रसिद्धाः लोकाः अग्निप्रभृतयः, ऋग्वादिवेदाः, प्राणाः च ये धर्मस्य अन्तरंग-बहिरंगसाधनतया यथायथं प्रसिद्धाः ते सर्वेऽपि ब्रह्मैव. 'ब्रह्म'पदं मध्यमं "**आपो ज्योतीरसो अमृतम्**" इत्यत्र '**भूर्भुवःसुवः**' इति अग्रिमे च सर्वत्र अन्वेति. एतावता "**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**" (भग.गीता ४।२४) इति स्मर्यमाणं

मुख्यं धर्मतत्त्वं दर्शितं, गायत्रीशिरसः उभयतः ॐकारस्तु तत्साफल्यार्थः, "**ब्रह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदावन्ते च सर्वदा स्रवति अनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति**" (मनुस्मृ.२।७४) इति मनुस्मरणात्.

किञ्च अबादीनां सुवः पर्यन्तानां स्वीकरणमपि ॐकारेण ज्ञाप्यते, ॐकारस्य अर्थस्तु ब्रह्मैव, "**ततो अभूत् त्रिवृद् ॐकारो यो अव्यक्तप्रभवः स्वराट् स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः**" (भाग.पुरा.१२।६।३९-४१) इति द्वादशस्कन्धवाक्यात्, "**ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म**" (महाना.उप.३४।१, भग.गीता ८।१३) इति तैत्तिरीये गीतायां च कथनात्. योगसूत्रेषु ईश्वरं प्रकृत्य "**तस्य वाचकः प्रणवः** (पातं.योगसू.१।२७) इति पतञ्जलिना सूत्रणात्, "**तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॐ इत्येतत्**" (कठोप.२।१५) इति कठश्रुतेः च. अत्र अकारादिमात्राविचारस्तु गोपथादिश्रुतिभागेषु विस्तीर्णइति प्रकृते विशेषोपयोगाभावात् नेह स प्रपञ्च्यते. इतरच्छब्दजालं च एतस्मादेव प्रादुर्भूतम्, आथर्वणानां माण्डूक्ये "**ॐ इत्येतद् अक्षरम् इदं सर्वं तस्य उपाख्यानं भूतं भवद् भविष्यद् इति सर्वम् ॐकारएव सर्वं हि एतद् ब्रह्म**" (माण्डु.उप.१-२) इति श्रावणात्. प्रणवविषये ते-ते विशेषाश्च तत्र-तत्र श्रुतिषु बृहत्पराशरादिस्मृतिषु च अपाणिपिहिताएव इति किं बहुना?

स्वाचार्यैः श्रीविट्ठलेशैः दर्शितं पुरुषोत्तमैः॥
गायत्र्यर्थं यथाबुद्धि श्रीमज्जीवनतुष्टये॥१॥
विद्वद्रत्नाद् घनश्यामात् स्वताताद् लब्धशास्त्रदृक्॥
पञ्चनद्युपनामा हि द्विजो गोवर्धनोऽलिखत्॥२॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ मूलमन्त्रार्थविचारः ॥

(समर्पणगद्यगोपालमन्त्रैकार्थ्यविवरणरूपः)

श्रीविट्ठलरायात्मजकाकावल्लभजीविरचितः

॥ ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ॥

अथ मूलमन्त्रार्थो लिख्यते : **क्लीम्** इति कामबीजं तेन आदौ तत्कथने पुष्टिमार्गीयसमर्पणे सएव बीजम् इति सूचितम्. परम अलौकिकः स भगवद्भावरूपो नतु लौकिकः, तस्य भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकत्वाद्. अलौकिकः तदुत्पत्तौ भगवदनुग्रहएव कारणं सैव पुष्टिः. स्वभावतो उत्तरदलरूपो भगवत्स्वरूपात्मकः इति ज्ञापनाय श्रीवियुक्त-सदानन्दार्थक('कृष्णाय')पदम् अनुपदम् उक्तम्. तादृशकृतेन समर्पणेन वह्नाविव सर्वदोषनिवृत्तिः इत्यपि सूचितम्. साधनबलेन कदापि न एवं भवतीति प्रमेयबलसूचकपरमैश्वर्यवाचकपदम् उक्तम्. यथा अन्यभजनं क्रियमाणान् भक्तान् स्वतः तन्निवार्य आत्मसात्कृत्वा रक्षितवान्. तदैव तन्नामप्रवृत्तिः तथा आधुनिकानामपि करिष्यति इति भावः. एतेन उत्तरदलप्राप्तिहेतुः उक्तः. पूर्वदलप्राप्तिहेतुः आह **श्रीगोपीजन...**इति. अत्र 'श्री'साहित्येन तत्प्रियत्वकथनेन च तद्रूपत्वात्. ततः तासां दलद्वयं क्रमेण अनुभावितवान्. तथा अधुनापि करिष्यति इति भावः. यथा अलौकिको देवता-द्रव्यसम्बन्धः 'स्वाहा'पदेनैव भवति तथा अत्रापि इति ज्ञापनाय **'स्वाहा'**पदम्. यथा स्वाहानन्तरं प्रक्षिप्तद्रव्यस्य आधाररूपता भवति तथा समर्पणानन्तरं जीवस्यापि तद्रूपता भवति इति भावः. स्वाहायोगे चतुर्थी (द्रष्ट. : पाणि.सू.२।३।१६). एतेन समर्पणगद्यप्रसवोपि इतएव इति लक्ष्यते. सर्वसाधारणत्वात् पृथक्प्रसवो गीतावत्.

श्रीमदाचार्यवाणीत्वात् तथासामर्थ्यम् इति दिक्. गद्येऽपि कामबीजात्मकता-पतिरोधानं पूर्वम् उक्तम्. तदुद्गमार्थमेव समर्पणकरणम्. तत्र **समर्पयामि** इत्यस्य स्वाहैव अर्थः. तेन अदूर-विप्रकर्षभावेन समर्पणं साक्षात्पुष्टिफलसा-धकं न भवति किन्तु सर्वात्मभावेन तद्रूपमेव तथा इति अभिप्रायः. अतएव तथा समर्पणं पूर्वम् उत्सवाध्याये प्रमाणप्रकरणे अतएव तत्रैव श्रीमदाचार्यचरणैः उक्तम्. ''**ताभिः चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः**'' (सुबो.१०।५।का.१६) इति फलप्रकरणे इति शेषः. तथा समर्पणं फलप्रकरणप्रथमाध्याये. अतएव तन्मनस्कत्वाद् इति भावः तदानीमेव दत्तः इति सर्वसंगतिः.

यद्वा, बीजाक्षरपूर्वक'सदानन्द'वाचकपदोक्त्या सदानन्दे तद् अस्ति इति ज्ञायते. तत्तु कोटिकन्दर्पलावण्यमेव. अतएव तद्दर्शनानन्तरमेव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः. बृहद्वामने ''**कोटिकन्दर्पलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः कामिनीभावम् आसाद्य रसक्षुब्धानि असंशयम्**'' (बृहद्वाम.पु-रा.   ) इति. तादृशे समर्पणानन्तरं स भावो उत्पद्येतैव इति अविवादम्. तदनन्तरमेव शुद्धिपुष्टिमार्गीयत्वम् इति सारम्.

❊ [''तत्रोपविष्टो भगवानित्यत्र ननु उत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो भवेद्'' इत्यत्र स्वतन्त्रः

निर्भरं क्रीडतोः आलि! कुञ्जे विगतवाससोः।
अन्योन्यप्रभयैवासीद् अन्योन्यस्योचितांशुकम्॥
(भाष्य.रश्मि.परि.९१)

यद्वा, पूर्ववरदानसमये वस्त्रेषु अपहृतेषु सर्वथा तदभावे रसाभासो न जातः तस्य केवलम् उत्तरीयाभावे कथम् अधुना स भवेद्?

इति वक्तुं **स** इति उक्तवान्. ननु तदानीमपि कथं न रसाभासः इत्यतः आह **ईश्वरो** इति, कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वाद् यदि सम्भवेत् तदा तथा न कुर्यादेव. अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेनापि तद्दत्तम् आसनं त्यक्तुं अशक्यमेव. अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि समुत्पादयितुं शक्तः. अतः तादृशे न किञ्चिद् अनुपपन्नम् इति भावः. "**वाजसनेयिशाखायाम् अन्तर्यामिब्राह्मणे 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं...यस्य प्राणः शरीरं...यस्य वाक् शरीरं...यस्य चक्षुः शरीरं...यस्य श्रोत्रं शरीरं...यस्य मनः शरीरं...यस्य त्वक् शरीरं'** (बृह.उप.३।७।१५-२१) **इत्यादेः अन्ते 'यस्य आत्मा शरीरम्'** (अणुभा.१।१।११) इति उक्तेः श्रुतिवाक्यतो मुख्यः कान्तः इति. कामस्तु स्वरूपानन्दानुभवार्थमेव एतासु भगवतैव सम्पादितो न तासां तन्मुख्यत्वम्. यासान्तु स मुख्यः तासाम् एतल्लीलाप्राप्तिः न जाता इति ज्ञापयितुम् अन्तर्गृहगतकथा इति भावः. जीवनवैपरीत्यं पश्चात्तनं न मुख्यम्]*.

इतिश्रीविट्ठलनाथतनुजकाकावल्लभविरचितो
मूलमन्त्रार्थविचारः समाप्तिम्
अफाणित्

...........+.........

— एतच्चिह्नाकिंतः प्रकृतविषयासम्बद्धः फलप्रकरणसुबोधिनीस्वतन्त्रलेखो अधिकः कस्यचन अनुलिपिकृतः प्रमादाद् वा अन्यथा वा संनिविष्टः उपलभ्यते इति न निर्णेतुं शक्यते (सम्पा.).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ गोपालमन्त्रार्थव्याख्या ॥

(श्रीमदनिरुद्धाचार्यगोस्वामिनां ब्रह्मामृतभाष्यसंक्षेपरूपा)

क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा

....

'कृषि'र्भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः ॥
तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्णः'इति अभिधीयते ॥१॥
ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय अक्लिष्टकर्मणे ॥
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥२॥

....

तत्र आदौ **कस्मात् कृष्णः** इति अनुयोगम् उत्तरयन् कृष्णपदार्थम् आह **'कृषिः'भूवाचकः** इति, 'कृष्' भूवाचकः सत्तानिवेदकः, 'ण'श्च आनन्दबोधकः. **तयोः ऐक्यं** यत्र तत् **परं** गणितानन्दाद् अक्षराद् उत्कृष्टं **ब्रह्म 'कृष्ण'नाम्ना वैदिकैः कथ्यते इति अर्थः. तं प्रणमति सच्चिदानन्दरूपाय** इति, प्राकृतरूपरहिताय. **कृष्णाय** श्रुतिप्रतिपादितपरब्रह्मणे. **अक्लिष्टकर्मणे** जीवानां सुखायैव सर्वकारिणे परमकृपालुत्वाद् अथवा स्वेच्छयैव सर्वकारिणे. नहि तस्य लोकवत् कर्मणि क्लेशो भवति स्वतन्त्रत्वात्. **वेदान्तवेद्याय** वेदान्तेन वेत्तुं ज्ञातुं योग्याय औपनिषदपुरुषाय इति अर्थः. **बुद्धिसाक्षिणे** इति, **"स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षिता एकः तं सत्यम् आनन्दनिधिं भजेत न अन्यत्र सज्जेद् यतः आत्मपातः"** (भाग.पुरा.२।१।३९) इति द्वितीयप्रथमनिरूपितः. **गुरवे** सर्वान्धकारनिरोधकर्त्रे. **नमः** नमस्करोमि.

पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोपीजनविद्या-
कलाप्रेरकः तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव

पदार्थजातस्य तदीयत्वाद् ममापि च तदधीनत्वाद् न अधिकं कर्तुं शक्यते इति अर्थः. एवं ब्रह्मत्वेन गुरुत्वेन च श्रीकृष्णं नत्वा **कस्मात् कृष्णः** इति अनुयोगोत्तरं प्रदाय स्थितं मुनयो अनुयुञ्जन्ति.

....

तान् उत्तरयन् ब्रह्मा जगाद **पाप**..इति. सर्वेषां भक्तानां पापं कर्षति अतः कृष्णः. ननु तैस्तै अन्यैरपि भक्तानां पापनाशसम्भवात् कथम् अस्यैव एकान्ततः पापापकर्षकत्वम् इति चेद्, न, न अन्यैः देवैः निःशेषपापापगमः कर्तुं शक्यो यथा अनेन क्रियते "**धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः**" (भाग.पुरा.११।५।४२) इति वाक्याद् "**मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य**" (भग.गीता ९।३२) इति गीतावाक्याच्च.

गोविदं लक्षयति. **गोभूमिवेदविदितो वेदिता** इति. गोभिः स्वेन्द्रत्वेन **विदितो** ज्ञातः. **भूमिविदितो** लोकप्रसिद्धः. **वेदविदितो** वेदप्रसिद्धः. **वेदिता** तेषां ज्ञाता इति अर्थः. **गोपीजनवल्लभार्थम्** आह **गोपीजनाविद्याकला**...इति, **गोपीजनाएव आसमन्ताद् विद्या तत्कलायाः प्रेरको गोपीजनवल्लभः. कृष्णोपनिषदि "गोप्यो गावो ऋचः तस्य"** (कृष्णोप.८) इति श्रुत्या तेषां श्रुतिरूपत्वस्य स्फुटत्वात्. तत्र अविद्यायाः असम्भवात् च. एवं ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्य **स्वाहायाः** तच्छक्तिरूपत्वेन तद्रूपत्वम् आह **तन्माया चेति,** मायाहि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा "**तस्माद् मायाम् एतां शक्तिं विद्याद्. यः एतां मायां शक्तिं वेद सः पाप्मानं तरति. स मृत्युं तरति. स संसारं तरति. सो अमृतत्वं गच्छति. महतीं श्रियम् अश्नुते**" (नृ.पू.ता.उप.३) "**मम योनिः अप्स्वन्तः समुद्रे**" (देवीसूक्त.७) "**दैवी हि एषा**

तद् यो ध्यायति रसति भजति सो अमृतो भवति
सो अमृतो भवति ।।

....

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरं ।।

गुणमयी मममाया दुरत्यया" (भग.गीता ७।१४) इत्यादि नृसिंहपूर्वतापिनीदेवीसूक्तगीताशास्त्रप्रामाण्यात्. एवं मायाया: शक्तिरूपत्वम् उक्त्वा तस्या: "शक्तिशक्तिमतो: अभेद:" इति न्यायेन पूर्वोक्तस्य सकलस्य तद्रूपत्वम् आह **सकलम्** इति, 'कृष्णो' 'गोविन्दो' 'गोपीजनवल्लभ:' च इति नामत्रये निर्दिष्टपूर्व: माया च सर्वं **परब्रह्मरूपमेव** इति अर्थ:. तस्य ध्यानादिकम् आह **एतद् य:** इति, यो भक्तो वेदप्रसिद्धं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म **ध्यायति** तत्स्वरूपं लीलां वा स्वध्येयत्वेन ध्यानविषयं करोति. **रसति** कीर्तयति जपति वा इति अर्थ:. **भजति** शरीरादिना सेवते. **स:** भक्त:. **अमृतो भवति** मुक्तो भवति इति अर्थ:. एतद् यो धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति आश्रावयति उपदिशति आचरते सो अमृतो भवति इति शाखान्तरीयपाठेतु भगवत: सर्वांगे मनोधारणं धारयति पदार्थ:. 'रसति' 'भजति' 'ध्यायते' इत्यादीनां पूर्ववदेव.

....

एतदेव श्लोकत्रयेण विशदयन् आह **सत्पुण्डरीकनयनम्** इति, सुन्दरकमलनयनम्. यथा कमलं तापापहारि तथा अयमपि स्वदृगन्तपातेन भक्तानां चिरविरहजनित-सन्तापशमन-समर्थ:. **मेघाभम्** इति. मेघवद् गभीरं श्यामं च. **वैद्युताम्बरं** पीताम्बरधारिणम्. **द्विभुजम्** इति, भुजद्वयशोभितं गोकुले वृन्दावने च द्विभुजत्वात्. ननु "**तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणं चतुर्भुजम्**" (भाग.पुरा.१०।३।९) इति वाक्ये चतुर्भुजत्वस्य प्रतिपादितत्वात् कथं द्विभुत्वम्? इति चेद्, वसुदेवं

द्विभुजं मौन(/ज्ञान)मुद्राढ्यं वनमालिनम् ईश्वरम्।
गोपगोपांगनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्॥
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम्।
कालिन्दीजलकल्लोलसंगिमारुतसेवितम्।
चिन्तयन् चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥

प्रति स्वपुरुषोत्तमत्वप्रतिपत्त्यर्थमेवतथा. वस्तुतस्तु 'संयोगपृथक्त्व'न्यायेन एकस्यैव स्वरूपद्वयविशिष्टत्वं "**चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोकुले/गोलोके द्विभुजस्वयम्/द्विभुजः स्वयम्**" (ब्रह्मवै.पुरा.४।८६।४३) इति वाक्यात्. **(ज्ञान/)मौनमुद्राढ्यम्** इति. गभीरया मुद्रया शोभितम्. **वनमालिनम्** इति, वनमाला अस्य अस्ति इति तं वनमालाधारिणम् इति अर्थः. **ईश्वरम्** इति, सर्वेषां हृदि वसन्तं परात्परम् "**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन! तिष्ठति**" (भग.गीता १८।६१) इति गीतावाक्यात्. **गोपगोपांगनावीतम्** इति गोपैः तदंगनाभिः च **वीतं** परिवृतम् इति अर्थः. यथा यज्ञोपवीततन्तुभिः. **सुरद्रुमतलाश्रितम्** इति, सुरद्रुमतलं निगमकल्पतरुतलं वा आश्रयो यस्य तम्. तादृग्वृक्षावलम्बिनम् इति यावत्. **दिव्यालंकरणोपेतं** परमकान्तिमदाभरणैः "**श्रीवत्सलक्ष्मं**" (भाग.पुरा.१०।३।९) "**चूतप्रवाल...**" (भाग.पुरा.१०।१८।२१) इत्याद्युपवर्णितप्रकारकशृंगारैः उपेतं विभूषितम्. अत्र शृंगारविषये बहुनि वक्तव्येऽपि दिग्दृष्ट्या किञ्चिद् इह उक्तम्. अथवा दिव्यैः अलौकिकैः आभरणैः शोभितम् इति अर्थः. आभरणानाम् अलौकिकत्वस्य उत्तरतापिन्यामेव समर्थितत्वात्. **रत्नपंकजमध्यगम्** इति, रत्नमयपंकजाकारासनाकारिस्थितम् इति. अथवा भक्ताएव रत्नं सारत्वात् तेषां च हृदयमेव पंकजं तस्य मध्ये गच्छति इति तथा. **कालिन्दी** इति, 'कलिं द्यति' इति कलिन्दः तस्य अपत्यं स्त्री **कालिन्दी** कलिच्छेदने धर्मविशिष्टा या यमुना तस्याः यद् **जलं** तत्रत्या ये **कल्लोलाः** तरंगाः तैः **संगो** यस्य इति तादृशसमीरण**सेवितम्** इति यावत्. **चिन्तयन्**

इति तस्य पुना रसनम् इति, जल[क]भूमि[ल-] [इ]इन्दु[ई]सम्पातकामादि- '...कृष्णाय' इति एकं पदं, 'गोविन्दाय' इति द्वितीयं पदं, 'गोपीजने'ति तृतीयं, 'वल्लभाय' इति तुरीयं, 'स्वाहा' इति पञ्चमम् इति, पञ्चपदं जपन् पञ्चांगं द्यावाभूमी सूर्याचन्द्रमसौ साग्नि: तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्म सम्पद्यते. 'क्लीम्' इत्येव आदौ आदाय 'कृष्णाय' 'गोविन्दाय' 'गोपीजनवल्लभाय'- इति. बृहद् मानव्या असकृद् उच्चरेद्, यो

इति. एतादृशं कृष्णं **चेतसा** तत्प्रवणचित्तेन भावयन् संसाराद् मुच्यते इति. एवं प्रथमप्रश्नोत्तरत्वेन ब्रह्मस्वरूपम् उपपाद्य द्वितीयोत्तरे रसनं निरूपयति **जलभूमीन्दुसम्पात:** इति. यथा सलिलायां पृथिव्यां बीजसम्पात: तथा प्रेमार्द्रे मनसि बीजरूपवरणप्रादुर्भाव: तेन च तत्कीर्तनं रसनम्. रसनप्रकारं फलं च आह **कामादि** इति. 'क्लीं'कार आदि: यस्य इति 'कृष्णाय' इत्यन्तम् एकं पदं, **'गोविन्दाय' इति द्वितीयं, 'गोपीजन...' इति तृतीयं 'वल्लभाय' इति चतुर्थं, 'स्वाहा' इति पञ्चमम् एवं पञ्चपदत्वम्. पञ्चपदजपेन तैस्तै: अंगै: क्रमेण तत्त्वातिक्रमं दर्शयति पञ्चपदं जपन्** इति, पञ्चांगसंयुतं मन्त्रं जपन् प्रथमेन आकाशं तद्रूपो भूत्वा अतिक्रामति द्वितीयेन भूमिं, तृतीयेण सूर्यं, चतुर्थेन विधुं, स्वाहाख्येन पञ्चमेन अग्निम् एवं तत्तत्पदस्मरणात् तत्तद्रूपो भूत्वा तांस्ताश्च अतिक्रम्य **ब्रह्म सम्पद्यते** ब्रह्म प्राप्तो भवति इति अर्थ:. तत्त्वातिक्रमस्य तत्तद्रूपत्वेनैव शास्त्रेषु निरूपणात्. आवृत्ति: अत्र दार्ढ्याय. मनोनिवेशनप्रकारम् आह **तद् एष: श्लोक:** इति. **क्लीम्** इति निर्दोषकामबीजं प्रथमम् उक्त्वा तत: **कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय** इति उक्त्वा तत: **स्वाहाया:** निवेश: कर्तव्य: इति आह**बृहद् मानव्या** बृहद् मानव्या

असौ गतिः तस्य अस्ति मंक्षु नान्या गतिः स्याद् इति. भक्तिः रहस्यभजनं तद् इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव अमुष्मिन् मनःकल्पनम्. एतदेव च नैष्कर्म्यम्. कृष्णं तं विप्राः बहुधा

स्वाहया संयुतं मन्त्रम् अजस्रं यः पठति तस्य **मंक्षु** तूर्णं **गतिः** मोक्षो भवति. **नान्या** इति, संसृतिरूपबन्धनकारिणी गतिः न भवति इति अर्थः. एवं द्वितीयस्य उत्तरम् उपपाद्य तृतीयम् उत्तरन् निष्कामां पुष्टिभक्तिं लक्षयति **भक्तिरहस्यभजनम्** इति, रहस्यभजनम् एकान्तसेवनम्. तत्स्वरूपं दर्शयति **तद्** इति. तद्भजनम् अमुष्यात्मनो वस्तुतः एतदीयस्य जीवस्य **इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव** ऐहिकामुष्मिकयावत्फलेप्साराहित्येन **कल्पनं** तदीयत्वसमर्थनम्, अन्तर्बहिस्सेवया तद्दृढीकरणम् इति अर्थः. "**कृपू सामर्थ्ये**" (पाणि.धा.पा.कौ.७६३) इति धात्वर्थात्. **एतदेव** स्वस्य तदीयत्वसमर्थनमेव **नैष्कर्म्यं** संन्यासः.

अन्येतु "**भक्तिः अस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन आमुष्मिन् मनःकल्पनम्**" इति पठन्ति. तत्रापि यावत्फलनैराश्यस्य प्रविष्टत्वाद् आमुत्रिकमध्ये मुक्तेरपि प्रवेशात् तदनपेक्षत्वन्तु सिद्धमेव. पुष्टिभक्तानां भगवत्स्वरूपेतरानपेक्षणाद् "**भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः**" (भाग.पुरा.५।६।१७) "**मधुद्विट् सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः**" (भाग.पुरा.६।१४।४४) इत्यादिप्रमाणव्यक्तत्वात् च. नच अष्टादशार्णमन्त्रम् उक्त्वा तदधिष्ठातुः स्वरूपध्यानादेः अमृतफलकत्वस्य कथनाद् भक्तौ भक्तानां च कथं तदनपेक्षः इति शंक्यम्. "**तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति तद् ह एतान् भूत्वा अवति**" (मुद्गलोप.३) इति श्रुतेः मुक्तिसाधनत्वेन जानतामेव तत्फलम्. भगवत्स्वरूपमेव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन अनुभवतां तु तदेव फलम्. "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" (भग.गीता ४।११) इति श्रीमुखवाक्यात्. अथवा भगवन्तं सेवमानानां

यजन्ति, गोविन्दं सन्तं बहुधा आराधयन्ति, गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे, स्वाहाश्रितो जगद् ऐजत् सुरेताः. वायुः यथा एको भुवनं प्रविष्टो जन्ये-जन्ये पञ्चरूपो बभूव, कृष्णः तथा एकोऽपि जगद्हितार्थं शब्देन असौ पञ्चपदो विभाति.

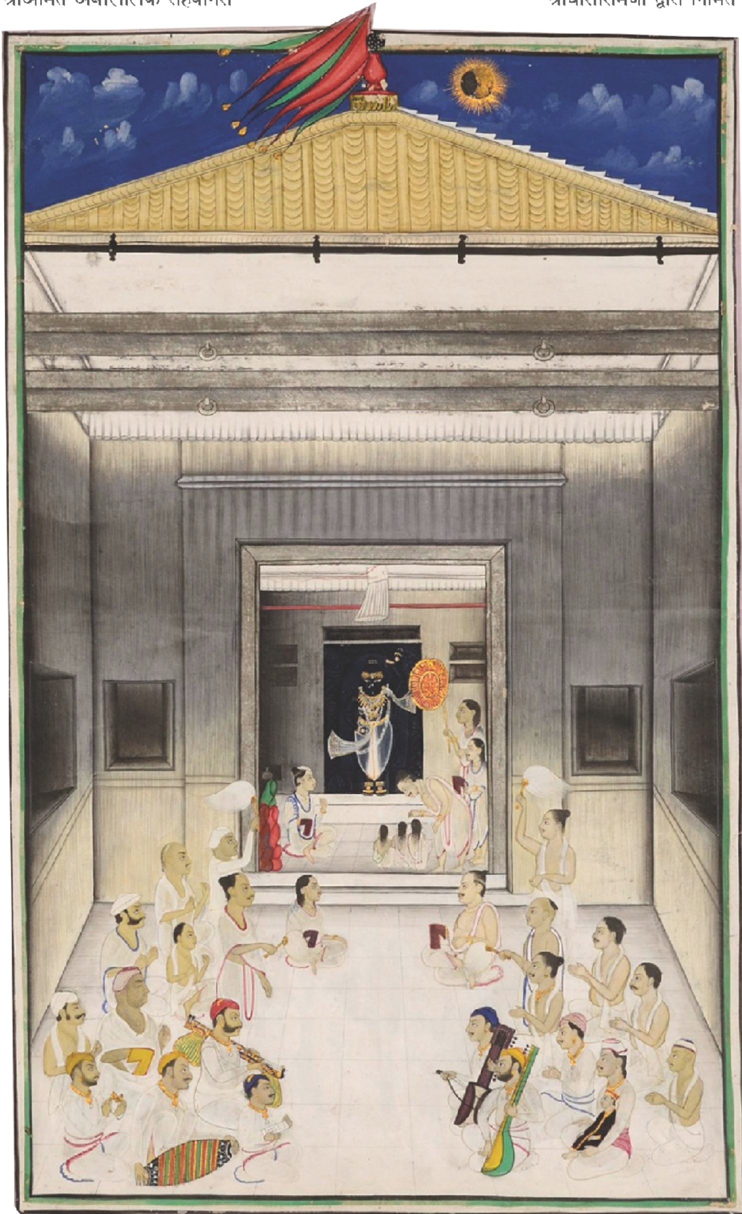
(गो.पू.ता.उ.गोपालमन्त्रव्याख्या).

तदनपेक्षत्वेऽपि सेवास्वभावादेव अञ्जसा आनुषंगिकमपि तद् भवति. "**हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिः अनिच्छतोऽपिगतिम् अण्वीं प्रयुंक्ते**" (भाग.पुरा.३।२५।३६) इति वाक्यात्. परं न ते तत्र रमन्ते. तत्र प्रकारविशेषम् आह **कृष्णम्** इति, सदानन्दं **तं** लोकवेदप्रसिद्धं **विप्राः** ब्राह्मणाः **बहुधा** विविधप्रकारेण **यजन्ति** पूजयन्ति कृष्णम् इति स्फुटम्. **गोपीजनवल्लभः** इति गोपीकाकान्तः, **भुवनानि** भुर्लोकव्यतिरिक्तान् अन्यान् लोकान् **जगद् एतत्** परिदृश्यमानं जगत् च **दध्रे** धृतवान् इति अर्थः. "**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! द्यावाभूमी(द्यावापृथिव्यौ) विधृते तिष्ठते**" (बृह.उप.३।८।९) इति श्रुतेः. तत्र विशेषम् आह **स्वाहाश्रितो** इति 'स्वाहा'ख्यया स्वशक्त्या युतः **सुरेताः** सुन्दरवीर्यवान् इति अर्थः. **भुवनानि** इति उक्त्वा **एतद् जगद्** इति कथनं दृश्यस्य अलीकत्वनिवारणाय. **पञ्चपद**त्वप्रयोजनम् आह **वायुः** इति. यथा समीरणः एकोऽपि **भुवनं** शरीरं **प्रविष्टः** कृतप्रवेशो **जन्येजन्ये** सकलप्राणीविग्रहे पञ्चरूपः प्राणापानव्यानोदानसमानरूपो **बभूव** अभवत् तथा **कृष्णो** वासुदेवः **एकोऽपि** "**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुत्या अद्वितीयोऽपि **जगद्हितार्थं** स्वोत्पादित-क्रीडाभाण्डरूपस्य जगतः तत्तत्पदेन द्यावाभूमिसूर्याचन्द्रमसाग्नीनाम् अतिक्रमपूर्वकं स्वप्राप्तये. **शब्देन** शब्दस्वरूपेण **असौ** एतदुपनिषत्प्रतिपाद्य-मानः **पञ्चपदः** पञ्चपदमन्त्रस्वरूपो **विभाति** प्रकाशते इति अर्थः...



श्रीअमित अंबालालके सहयोगसे

श्रीघासीरामजी द्वारा निर्मित



नाथद्वारामें सूर्यग्रहणकालमें श्रीनाथजीके समक्ष श्रीगिरिधार्यात्मज श्रीगोवर्धनलालजीकी उपस्थितिमें दादाजी श्रीकल्याणरायजी तीन गिरधरलालजी बालकृष्णजी और मधुसुदनलालजी गोस्वामी बालकोंको गोपालमन्त्रकी दीक्षा (वि.सं.१९३९ में)देते हुवे.

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

अग्निपुरा.	अग्निपुराण
अणुभा.	अणुभाष्य
अन्त.प्रबो.	अन्त:करणप्रबोध
अमृ.ना.उप.	अमृतनादोपनिषद्
आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त	
आदि.हृद.	आदित्यहृदय
आर्षेयब्रा.	आर्षेयब्राह्मण
उपदे.शं.निरा	उपदेशविषयकशंकानिरासवाद
ऋक्संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऋक्सं.सा.भा.	ऋग्वेदसंहिता सायणभाष्य
कठोप.	कठोपनिषद्
कृष्णोप.	कृष्णोपनिषद्
कौषी.वेदशिर.उप.	कौषीतकि वेदशिरोपनिषद्
गो.पू.ता.उप.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
छान्दो.उप.मंग.	छान्दोग्योपनिषद् मंगलाचरण
जयसंहि.	जयसंहिता
त.दी.नि	तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश
त.दी.नि.मं.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धमंगलाचरण
तलव.ब्रा.	तलवकरब्राह्मण
तैत्ति.आर.	तैत्तिरीयारण्यक
तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मण
तैत्ति.संहि.	तैत्तिरीयसंहिता
दशश्लो.	दशश्लोकी
देवीसूक्त	
नव.	नवरत्न
नव.प्रका.	नवरत्न प्रकाश

नार.स्मृ.	नारदीयस्मृति
नारा.अथ.शि.उप.	नारायणअथर्वशिखोपनिषद्
निक्षेपरक्षा	
निघ.	निघण्टुनिरुक्त
निघ.विवृ.	निघण्टुविवृत्ति
निरुक्त	
नि.ल.	निरोधलक्षण
नृ.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
नृ.पू.ता.उप.	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
पञ्चतंत्र	
पातं.योगसू.	पातंजलयोगसूत्र
पद्मपुरा.	पद्मपुराण
पा.धा.पा.कौ.	पाणिनिधातुपाठ कौमुदी
पाणि.धा.दिवा.	पाणिनिधातुपाठदिवादिगण
पाणि.धा.भ्वा.	पाणिनिधातुपाठभ्वादिगण
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्र
पाणि.सू.वा	पाणिनिसूत्रवार्तिक
प्राणाग्नि.उप.	प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
बा.बो	बालबोध
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्योगी.स्मृ.	बृहद्योगीयाज्ञवल्क्यस्मृति
बृहद्वाम.पुरा.	बृहद्वामनपुराण
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र
ब्र.सू.अणुभा.	ब्रह्मसूत्राणुभाष्य
ब्रह्मवै.पुरा.	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भक्तिहंस मंग.	भक्तिहंस मंगलाचरण
भग.गीता	भगवद्गीता
भ.व.	भक्तिवर्धिनी
भ.हे.नि.	भक्तिहेतुनिर्णय
भाग.पुरा.	भागवतपुराण
भाग.पुरा.प्रक्षि.	भागवतपुराण प्रक्षिप्ताध्याय

भारद्वा.स्मृ.	भारद्वाजस्मृति
भावा.सू.भा	भावार्थपाद सूत्र भाष्य
मनुस्मृ.	मनुस्मृति
महाना.उप.	महानारायणोपनिषद्
महाभा.	महाभारत
महाभा.ता.नि.	महाभारततात्पर्यनिर्णय
महोप.	महोपनिषद्
मीमां.को	मीमांसाकोष
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
मुद्ग.उप.	मुद्गलोपनिषद्
मैत्रा.उप.	मैत्रायण्युपनिषद्
रामा.	रामायण
रुद्रयामलम्.उ.त.	रुद्रयामलम् उत्तरतन्त्रम्
लिंगपुरा.	लिंगपुराण
वर.रा.पञ्चा	वरदराजपञ्चाशत् स्तोत्र
वाचस्पत्यम्	
विज्ञ.	विज्ञप्ति
वि.धै.आ.	विवेकधैर्याश्रय
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराण
वैखा.गृ.सू.ता.चि.	वैखानसगृह्यसूत्रतात्पर्यचिंतामणि
शाकटा.धा.उणा.	शाकटायन् धातुपाठ उणादिगण
शाट्या.उप.	शाट्यायनीय उपनिषद्
शाब.भा.	शाबरभाष्य
शा.भ.सू.	शाण्डिल्यभक्तिसूत्र
शिखरणीमाला	
शु.यजु.संहि.मही.भा.	शुक्लयजुर्वेदसंहितामहीधरभाष्य
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षट्प.स्तो.	षट्पदी स्तोत्र
श्रीवल्ल.	श्रीवल्लभाष्टक
श्रीव्रज.कृत कृष्णा.विव.	श्रीव्रजराजकृत कृष्णाश्रय विवरणम्
श्रीशिवभु.स्तो.	श्रीशिवभुजंगस्तोत्र

संन्या.निर्ण.	संन्यासनिर्णय
सर्वो.स्तो.	सर्वोत्तमस्तोत्र
साम्बपञ्चाशिका	
सिद्धा.मुक्ता.	सिद्धांतमुक्तावली
सिद्धा.रह.	सिद्धान्तरहस्य
सिद्धा.रह.वि.	सिद्धान्तरहस्य विवरणम्
सुबो.	सुबोधिनी
सुबो.कारि.	सुबोधिनीकारिका
सुबो.प्रका.	सुबोधिनी प्रकाश
से.फ.	सेवाफलम्
से.फ.वि.	सेवाफलविवरण
स्म.च.व्यव.का.दासनिरू.	स्मृतिचंद्रिका
८४ वै.वा.	८४ वैष्णववार्ता

***

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

ग

च

छ

ज

ज्ञ

त

य



सिद्धान्तरहस्यम्

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।१।।
ब्रह्म-सम्बन्ध-करणात् सर्वेषां देह-जीवयोः ।।
सर्व-दोष-निवृत्तिर् हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ।।२।।
सहजा देश-कालोत्थाः लोक-वेदनिरूपिताः ।।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।।
असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत् ।।४।।
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः ।।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्त-समर्पणम् ।।५।।
तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्व-वस्तु-समर्पणम् ।।
दत्तापहार-वचनं तथा च सकलं हरेः ।।६।।
न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्न-मार्ग-परं मतम् ।।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुण-दोषादि-वर्णना ।।८।।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापि चैव हि ।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं सम्पूर्णम् ।।